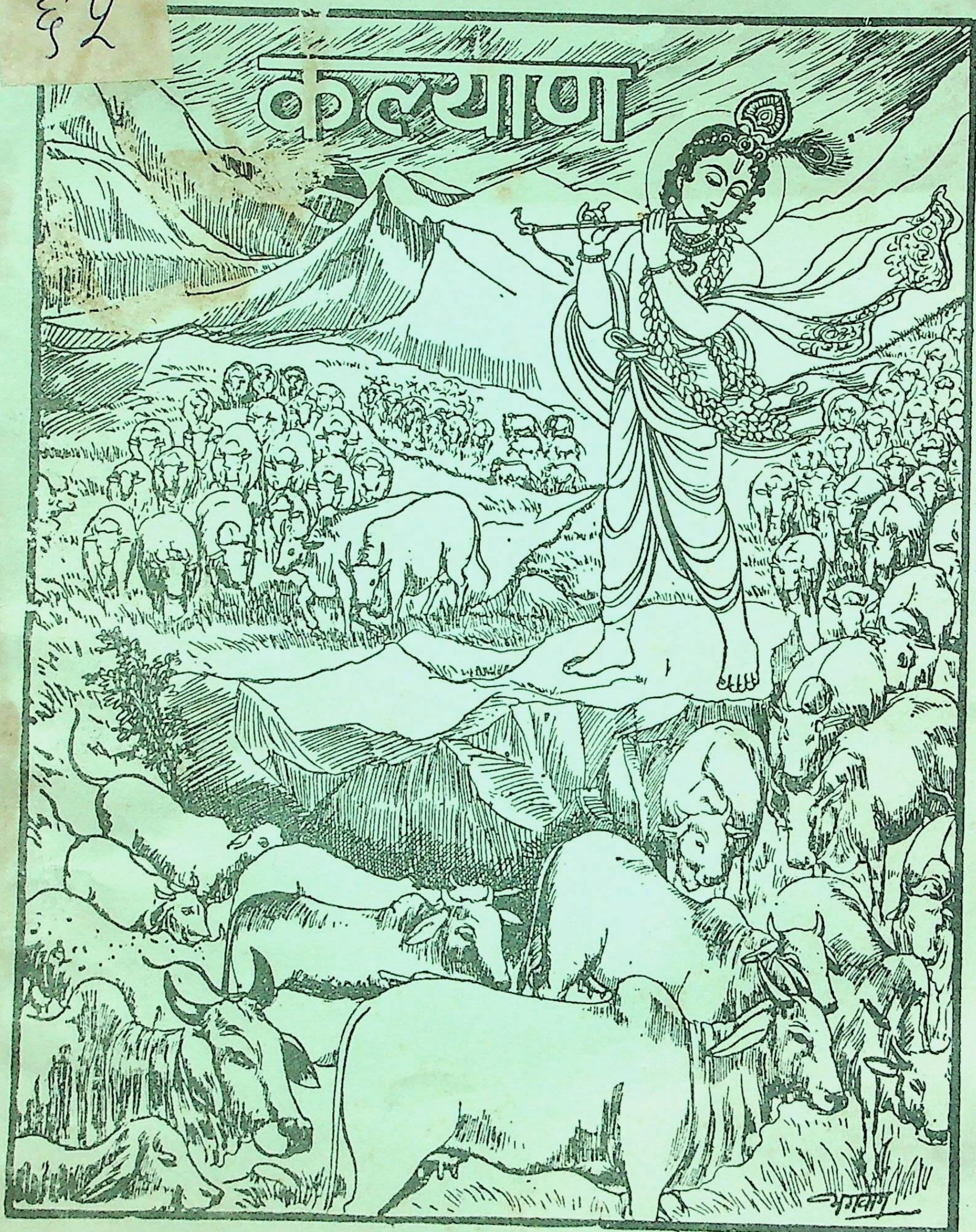
* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *



वर्ष ५९ * * * * * संख्या १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।।

(संस्करण १,६५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२११, दिसम्बर १९८५

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य

भारतमें १.००रु०

विदेशमें १० पेंस

जय बिराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ।।

कल्याणका वार्षिक मूल्य

भारतमें २४.००रु०

विदेशमें ६०.००रु०

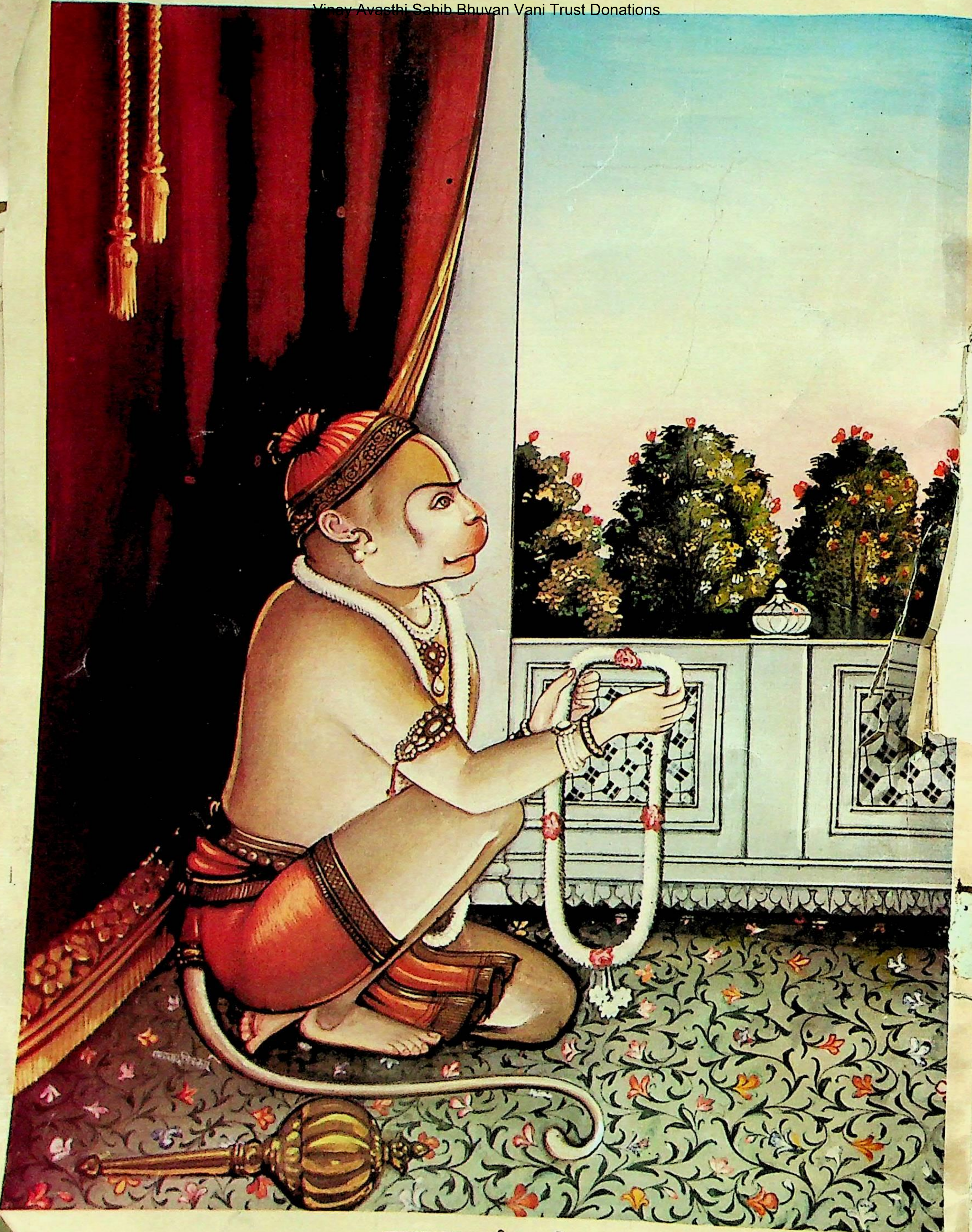
(४ पौण्ड)

संस्थापक––**ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका**

आदिसम्पादक––नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक––**राधेश्याम खेमका**

गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालान-गीताप्रेस, गोरखपुरद्वारा मुद्रापित तथा प्रकाशित



रुद्रावतार श्रीमारुति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।



कल्याण

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान् मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः।।

वर्ष ५९ गोरखपुर, सौर पौष, श्रीकृष्ण संवत् ५२११, दिसम्बर १९८५ ई० संख्या १२ पूर्ण संख्या ७०९

रुद्र-अवतार हनुमान्!

जयति रणधीर, रघुबीरहित, देवमणिरुद्र-अवतार, संसार -पाता।
विप्र-सुर-सिद्ध-मुनि-आशिषाकार वपुष, विमलगुण-बुद्धि-वारिधि-विधाता।।

'आप रणमें बड़े धीर, श्रीरामजीका सदा हित करनेवाले, देवताओंमें शिरोमणि रुद्रके अवतार और संसारके रक्षक हैं। आपका शरीर ब्राह्मण, देवता, सिद्ध और मुनियोंके आशीर्वादका मूर्तिमान् रूप है। आप निर्मल गुण और बुद्धिके समुद्र तथा विधाता हैं। आपकी जय हो।

कल्याण

संसारके जितने भी भोग हैं—छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े, सब-के-सब अनित्य हैं—सदा रहनेवाले नहीं हैं। दूसरे, सब-के-सब भोग अपूर्ण हैं, कोई भी भोग ऐसा नही है, जिसे प्राप्त करके आप यह अनुभव कर सकें कि अब और कुछ नहीं चाहिये। तीसरे, भोग जितने अधिक होंगे, उतनी ही भोगोंकी चाह अधिक बढ़ेगी और जितनी बड़ी चाहरूपी आग होगी, उतने अधिक ईंधनकी आवश्यकता होगी—यह नियम है। अतएव जिसके पास जितना बड़ा भोग-समुदाय है, उसकी भोगोंकी भूख उतनी ही बड़ी है और जितनी बड़ी भोगोंकी भूख है, उतना ही बड़ा उसका दुःख है। आग जितनी बड़ी होती है, उसकी उतनी ही बड़ी गर्मी होती है तथा वह उतनी दूरतक ताप पहुँचाती है। जितना ही भोग-बाहुल्य है, उतना ही दुःख-बाहुल्य है, ताप-बाहुल्य है और उस दुःख तथा तापका प्रभाव उतनी ही दूरतक प्रसारित होता रहता है।

भोगोंकी प्राप्ति प्रारब्धाधीन है। हमलोग मिथ्या प्रयास करते हैं—झूठ बोलते हैं, छल करते हैं, कपट करते हैं; आपसमें लड़ते हैं—पड़ोसी पड़ोसीसे, भाई भाईसे, पिता पुत्रसे। यह सब क्यों होता है? हमने मनमें ऐसा मान रखा है कि हम 'अपना' प्रयास करके अधिक पा लेगें अथवा हमारी कोई हानि हो रही है तो उससे तो अपनेको बचा लेंगे, किंतु हमारी यह धारणा भ्रामक है। प्रारब्ध प्रायश्चित्तसे, भगवच्छरणागतिसे अथवा ज्ञानसे ही जल सकता है; किंतु जबतक वह जलता नहीं, तबतक प्रारब्धका भोग करना ही पड़ेगा—

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'

हमारी कोई हानि हो रही है तो हमारे मनमें विचार उत्पन्न होता है कि अमुक व्यक्तिसे हानि हो रही है, किंतु प्रथम तो ऐसी मान्यतामें हमारी भूल हो सकती है, क्योंकि अमुक व्यक्तिका हमारी हानिमें तनिक भी हाथ नहीं हो सकता है, दूसरे, यदि वह व्यक्ति हानि करनेका प्रयत्न कर भी रहा है तो वह हमारी हानि कभी कर ही नहीं सकता, यदि हमारा प्रारब्ध हानिका नहीं है। हमारी हानि तभी होनी सम्भव है, जब हमारा प्रारब्ध वैसा है। ऐसी अवस्थामें जो हमारी हानि करनेका, हमारा बुरा करनेका, हमें कष्ट पहुँचानेका मनोरथ करता है, प्रयत्न करता है, वह नया पापकर्म कर रहा है और उसके फलस्वरूप उसे दुःख भोगना पड़ेगा। साथ ही हमारा प्रारब्ध हुए बिना वह हमें हानि पहुँचा नहीं सकता। अतएव जब हमें कोई हानि पहुँचती है और हानि पहुँचानेमें हमको दूसरा व्यक्ति कारण दीखता है, तब वहीं हमें सोचना चाहिये कि 'वह बेचारा व्यक्ति दयाका पात्र है, वह अपने-आप अपनी बुराई कर रहा है, भगवान् उसे क्षमा करें, उसपर कृपा करें, उसको सद्बुद्धि दें, हमारा तो जो कुछ होना होगा, वह प्रारब्धके अनुसार होगा ही, वह उसमें निमित्त न बने तब भी होगा, किंतु उसमें निमित्त बनकर वह नया पाप कर रहा है।'

जो नियम दूसरोंके लिये है, वही हमारे ऊपर भी लागू होता है। अतएव हमलोग भोगोंकी प्राप्तिके लिये जो नये-नये पाप करते हैं—झूठ बोलते हैं, छल करते हैं, कपट करते हैं, हिंसा करते हैं, चोरी करते हैं, दंगा करते हैं— ये सब पाप तो हमारे पल्ले बँधते जाते हैं और हमारा लाभ उतना ही होता है, जितना होना अवश्यम्भावी है। अतएव कर्मके इस सिद्धान्तको समझकर हमें निश्चिन्त रहना चाहिये; कभी भी छल, कपट, असत्य-भाषण आदिका आश्रय नहीं ग्रहण करना चाहिये। जो लोग छल-कपट आदिका आश्रय ग्रहण करते हैं, उन्हें दयाका पात्र मानकर उनके प्रति सद्भाव बनाना चाहिये तथा भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि वे उन्हें क्षमा करें, उन्हें निर्मल बुद्धि प्रदान करें। —'शिव'



प्रभुकी प्रेरणा

सभी मनुष्योंको सब समय प्रभुकी ओरसे अपने अन्तरात्मामें यह प्रेरणा अवश्य मिलती रहती है कि 'ऐसा करो', 'ऐसा मत करो', किंतु हममें अधिक ऐसे हैं जो उनकी प्रेरणाको जान नहीं पाते। यदि कहीं कोई जानता भी है, तो वह उपेक्षा करता है। इसका निश्चित परिणाम यह होता है कि हम जहाँ जिस क्षेत्रमें जाते हैं, वहीं हमें उलझन मिलती है। अपनेसे आगे बढ़े हुएको देखकर हम जल उठते हैं। अपनी जलनको शान्त करनेके लिये उसकी कटु आलोचना आरम्भ करते हैं और जलन उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। अपने अतिरिक्त अन्य सभी हमें भूले हुए दिखायी देते हैं, सबको सुधारनेका, सारी बुराइयोंको एक साथ दूरकर देनेका हम ठेका ले बैठते हैं। विरोधीकी एक बात भी सुननेके लिये हम तैयार नहीं; अपनी-अपनी ही हमें सुनानी रहती है। अपना मैल धोनेके लिये हमारे पास अवकाश नहीं रहता। धोना दूर, हम भी गंदे हो सकते हैं, यह सोचने-विचारनेतकका अवकाश नहीं। वस्तुतः मैलसे हम चिपटे होते हैं, पर स्वप्न देखने लगते हैं स्वर्गीय जीवनका। प्रभुकी ओरसे आयी हुई प्रेरणाको, उनके दिये हुए स्नेहभरे आदेशको न सुननेका, सुनकर उपेक्षा कर देनेका यह स्वाभाविक परिणाम है तथा ऐसी भावना, ऐसी प्रवृत्ति जितनी अधिक बढ़ती है, उतनी ही मात्रामें हम उत्तरोत्तर उनकी मङ्गल प्रेरणाओंको ग्रहण करनेमें अयोग्य बनते जाते हैं। उनके स्वर और हमारे ज्ञानके बीचमें व्यवधान घना होता जाता है। कुत्सित भावनाएँ, उनसे कुत्सित प्रवृत्तियाँ, फिर उनसे कुत्सित संस्कार—इनकी क्रमशः मोटी-मोटी दीवालें बनती जाती हैं और इसी क्रमसे धीरे-धीरे प्रभुकी ओरसे आयी हुई सूचना क्षीणतर होती हुई अन्तमें वह ऐसी बन जाती है मानो लुप्त हो गयी, है ही नहीं, थी ही नहीं। आदेश तो उस समय भी आता ही रहता है, पर हमारा मन उसे ग्रहण करनेमें सर्वथा अयोग्य हो जाता है, इसलिये वह आदेश सुन नहीं पड़ता।

कल्पना करें, हमारे सामने जीवनयात्रा-सम्बन्धी कोई प्रश्न उपस्थित हुआ। अब इस विषयमें कौन-सी व्यवस्था सबसे सुन्दर होगी, हमें क्या करना चाहिये, हम क्या करें—ये सभी बातें हमें प्रभुकी ओरसे प्राप्त होती हैं; उनकी निश्चित प्रेरणा इस सम्बन्धमें हममेंसे प्रत्येकको अवश्य मिलती है, पर हम सुन नहीं पाते और तबतक सुन भी नहीं पायेंगे, जबतक अपने अंदर बार-बार, पद-पदपर व्यक्त होनेवाली व्यक्तिगत अहङ्कारकी आवाजको सर्वथा कुचलकर हम प्रभुकी आवाज, प्रभुके आदेशको वास्तवमें सुननेके लिये तैयार न हो जायँगे। हमारे सामने तो जब कोई भी समस्या आती है, तब हमारा अहङ्कार सामने आ जाता है और एकके बाद अनेकों युक्तियाँ बतलाने लगता है— यह करो, वह करो। हम सोचते हैं—ऐसा करके हम सफल हो जायँगे, सुखी हो जायँगे। क्षणभरके लिये भी हमारे अंदर यह विचारतक नहीं उदित होता कि यह कार्य, यह ढंग प्रभुके आदेशका अनुगामी है या नहीं। मन अगणित-असंख्य संस्कारोंसे, वासनाओंसे भरा होता है। वर्तमानका वातावरण अनुरूप संस्कारोंको प्रभावित करता रहता है। वे जाग उठते हैं तथा उन्हींके अनुरूप हम अपना कार्यक्रम स्थिर करते हैं, समस्याएं हल करने चलते हैं। संयोगसे हमारे कुछ कार्यक्रम, कुछ सुझाव प्रभुके आदेशके अनुकूल भले हो जायँ, पर अधिकांश विपरीत होते हैं। विपरीत होनेका ही यह प्रमाण है कि आगे बढ़ते ही हम उलझन, ईर्ष्या, परनिन्दा, अहम्मन्यता, असहिष्णुता, मलिनता, अज्ञान आदिसे घिर जाते हैं। यही आजके जगत्में हो रहा है, हम सोचकर देखेंगे तो प्रायः सर्वत्र सभी क्षेत्रोंमें, कहीं कम तो कहीं अधिक, यही स्पष्ट देख पायेंगे।

यह ठीक है कि अहङ्कारकी आवाजको सर्वथा शान्तकर देना सहज नहीं और यह हुए बिना प्रभुके सङ्केतको भी स्पष्ट सुन लेना सम्भव नहीं। पर इस दिशामें हमारा प्रयत्न भी तो हो। उनकी ओरसे आयी

हुई प्रेरणाको ग्रहण करनेके लिए हमारा मन उन्मुख तो हो। हम अपनी प्रत्येक चेष्टाके आरम्भमें उनकी ओर मुड़ें तो सही। हमारी इच्छा तो हो। उनके आदेशका अनुसरण करनेका निश्चय तो हमारी बुद्धिमें हो जाय। फिर तो उनकी ओरसे कुछ-न-कुछ, नहीं-नहीं पर्याप्त प्रकाश मिलेगा ही। एक बार हम अपने सञ्चित संस्कारोंके प्रवाह-(स्फुरणा-)को रोक दें, मनको खालीकर दें, न खालीकर सकें, बरबस स्फुरणाएँ उठती ही रहें तो फिर प्रभुसे सम्बन्ध रखनेवाले विचारोंको, भावको मनमें भरना आरम्भकर दें, प्रभुके स्मरणसे चित्तको पूरित करने लग जायँ। इससे यह होगा कि अहङ्कार रहनेपर भी चित्तमें प्रभुके दिव्य संदेशका स्पन्दन आरम्भ हो जायगा। कदाचित् अपने एवं प्रभुके बीचमें स्थित आवरणकी घनताके कारण हमें उस स्पन्दनकी अनुभूति न हो अथवा इतनी अस्पष्ट हो कि हम ठीक-ठीक उसे समझ न पायें—प्रभु क्या चाहते हैं, उनकी क्या आज्ञा है, यह स्पष्ट निर्णय हम न कर पायें तो भी हमारा काम तो हो ही जायगा। वह इस रूपमें कि हमारे अनजानमें ही हमारे चित्तकी, बुद्धिकी, इन्द्रियोंकी गति उसी ओर हो जायगी जिस ओर प्रभु हमें ले जाना चाहते थे तथा उस ओर गति होने पर उलझन हमारे लिये नहीं रहेगी, हम क्या करें, क्या न करें— यह उधेड़-बुन नहीं रहेगी। अपने-आप स्वाभाविक ही हम, जिस ओरसे हटना चाहिये, हट जायेंगे, जिधर चलते रहना चाहिये, चलते रहेंगे। ईर्ष्याकी आग फिर हमें नहीं जलायेगी, 'हाय रे, हमने इतना ही कमाया, उसने इतना कमा लिया, हमारी पूछ नहीं, उसे सभी आदर देते हैं, हम पीछे रह गये, वह आगे बढ़ गया, वह गिर क्यों नहीं पड़ता' —ये कलुषित भावनाएँ हमें छू नहीं सकेंगी। दूसरेके दोषोंकी आलोचनाकर अपना मन गंदा करनेकी प्रवृत्ति हममें नहीं होगी। 'हम ठीक हैं, अन्य सभी भ्रान्त हैं'—यह गर्व हमारे अंदर नहीं आयेगा। सबको निर्मलकर देनेका बीड़ा हम कदापि नहीं उठायेंगे। अपने विपक्षीकी बातका भी हम यथायोग्य आदर करेंगे। अपने अंदरका छोटे-से-छोटा दोष भी सामने आने लगेगा। उसे धोनेमें ही हम इतना व्यस्त हो जायँगे कि दूसरोंमें कहीं मैल है भी, यह स्मृति लुप्त हो जायगी। अपनी स्थितिके सम्बन्धमें हमें भ्रान्ति नहीं होगी, वास्तवमें हम जहाँ हैं, उसका ज्ञान हमें बना रहेगा, भूलकर भी हम हवाई किलेमें राजा बनकर सैर करने न जायँगे, मलिनतासे भरे रहनेपर भी देवता, महात्मा होनेका भ्रम हमारे अंदर कभी नहीं आयेगा। प्रत्येक चेष्टाके आरम्भमें—चाहे वह कितनी भी नगण्य-सी क्यों न हो—प्रभुकी प्रेरणा, इच्छा, आदेशके साँचेमें हमारी बुद्धि, मन, इन्द्रियोंके ढल जानेपर ये बातें हममें निश्चितरूपसे होंगी। ये नहीं हों, इनसे विपरीत हों तो समझ लेना चाहिये कि हमारी चेष्टा प्रभुकी प्रेरणासे परिचालित नहीं है, अपितु हम अहङ्कारकी आवाजसे नियन्त्रित होकर पीछेकी ओर नीचे गिरते जा रहे हैं। जितनी शीघ्रतासे हम चेतेंगे, उतना ही अधिक हमारा एवं जगत्का लाभ होगा। जितनी अधिक देर लगेगी उतनी ही अधिक मात्रामें हमारा एवं जगत्के ध्वंसका मार्ग प्रशस्त होगा। किंतु अभी हमारी दशा तो यह है——

'मारग अगम, संग नहिं संबल, नाउँ गाउँ कर भूला रे।'

अत्यन्त कठिन मार्गसे हम चल रहे हैं, पासमें पथके लिये पाथेय (संबल—मार्गभोज्य) भी नहीं है और सबसे बड़े मजेकी बात तो यह है कि हमें जिस गाँवमें जाना है, उसका नामतक हम भूल गये हैं। मार्ग कठिन है इसलिये कि हमारे चारों ओर विषयोंके झाड़-झंखाड़, पर्वत, वन भरे पड़े हैं, क्षण-क्षणमें हम रास्ता भूल रहे हैं। प्रभुकी स्मृतिरूपी पाथेय भी नहीं, जो हमारे श्रान्त मन, इन्द्रिय, प्राणोंमें पुनः-पुनः नवशक्तिका संचार करता रहे और सबसे अधिक चिन्ताकी बात तो यह है कि हम मानव-जीवनके उद्देश्यको ही भूल गये हैं। प्रभुकी प्राप्ति ही हमारे जीवनका एकमात्र उद्देश्य है, वहीं हमें जाना है, हमें इस बातकी ही विस्मृति हो गयी है। ऐसी अवस्थामें

प्रत्येक कार्यका आरम्भ करते समय प्रभुका संकेत ग्रहण करनेकी वृत्ति हमारे अंदर जाग उठे, हम उसके लिये प्रयास करें, यह सम्भावना कहाँ? हाँ, किसी अनिर्वचनीय सौभाग्य-वश यदि दुःखोंसे छूटनेके लिये भी हम प्रभुको पुकार सकें, सच्चे सरल हृदयसे अपनी यह विनय सुना सकें— 'नाथ! अब तुम्हीं आगे ले चलो' —

'तुलसिदास भव-त्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे।'

—ऐसी सच्ची भावना दुःखके समय ही हमारे अंदर जाग उठे तो भी जीवनके अन्ततक हम कृतार्थ हो जायँ। इसमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं। दुःखमें की हुई प्रत्येक पुकार हमारे एवं प्रभुके बीचमें स्थित परदेको क्रमशः फाड़ती ही जायगी। प्रभुके साथ किया हुआ क्षणभरका सम्बन्ध भी हमारे मन, प्राण एवं इन्द्रियोंमें अपनी छाप—स्थायी प्रभाव छोड़ जायगा। किसी दिन प्रबल दुःखको निमित्त बनाकर प्रभुको पुकारते समय कोई ऐसा भरपूर धक्का लगेगा कि आवरण छिन्न-भिन्न हो जायगा। उसीके साथ हमारे अहङ्कारकी आवाज भी शान्त हो जायगी और तब वास्तवमें हम प्रभुकी प्रेरणा अत्यन्त स्पष्टरूपसे सुननेमें समर्थ हो सकेंगे। उस समय हमारा जीवन कुछ और ही होगा।

संत और भक्तजन

(श्रीहरिकृष्णदास गुप्त 'हरि')

एक संत थे। प्रारब्धवश उनके पैरमें फोड़ा हो गया। फोड़ेने विषाक्त फोड़ेका रूप ले लिया। फलतः पैर काट देना पड़ा।

भक्तजनोंको दुःख प्रकट करना ही था— रह-रहकर, तरह-तरहसे।

संत मौन रहते हुए यह सब देखते रहे और मुस्कराते रहे; किंतु कुछ तो उत्तरमें कहना ही चाहिये था। अतः सब सुनकर शान्त-संयत स्वरमें बस इतना ही बोले—

'दुःखी क्यों हो रहे हो तुम लोग? यह क्यों भूले जा रहे हो कि ईश्वर जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है?'

इतना कहकर, क्षणार्ध तक रुककर, सहसा आत्ममस्तीकी तरंगमें आकर ठहाका मारकर हँसते हुए वे इतना और बोले—

'अरे बावलो! रो क्यों रहे हो? मेरा पैर ही तो नहीं रहा है, मैं तो रह ही रहा हूँ और रहूँगा ही। मेरे रहते मेरा कुछ रहे, न रहे— क्या अन्तर पड़ता है?'

भक्तजन यह सुनकर एक क्षणतक तो विस्मय-विस्फारित नेत्रोंसे संतके मुखकी ओर ताकते रहे कि वे क्या कह रहे हैं। पर अगले ही क्षण उनके कथनकी तहमें पहुँचकर उनके प्रति उनकी श्रद्धाने वारिधिका रूप ले लिया। उसे वारिधिका रूप लेना ही था; क्योंकि उन्हें पता जो चल गया था कि वे कहाँ हैं और संत कहाँ?

ब्रह्मचारियोंके नियम एवं अहङ्कार का नाश

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

बालकोंका प्रथम व्रत ब्रह्मचर्य-पालन करना है। केवल ब्रह्मचर्य-पालनसे ही परम गति होती है—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।।

(गीता ८। ११)

'अर्जुन! वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको ॐकार नामसे कहते हैं और आसक्ति-रहित यत्नशील महात्मा जन जिसमें प्रवेश करते हैं तथा जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परमपदको तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा'।

विधवा स्त्री ब्रह्मचारियोंकी गति पाती है।

ब्रह्मचारियोंको किसी भी प्रकार शरीरमें काम पैदा नहीं होवे, कामोद्दीपन ही नहीं होवे, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये और वे भीष्म, हनुमानजी आदिके आदर्शपर चलें। जीवन भले ही चला जाय, किंतु व्रत नहीं छोड़ना चाहिये। ब्रह्म=ब्रह्म (परमात्मा) और चर्य=विचरना अर्थात् ब्रह्ममें विचरना, सदा उसीका ध्यान रखना— 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है। ब्रह्मचारियोंको शरीरपर तेल आदि नहीं लगाना चाहिये, शृङ्गार नहीं करना चाहिये। दर्पणमें मुख नहीं देखे, पान नहीं खाये, शौकीनी नहीं करे, कमरमें मूँजकी रस्सी और हाथमें पलासका दण्ड धारण करे। सिर खुला रहना चाहिये और नित्यप्रति प्रातःकाल संध्या, गायत्री-जप, गुरुसेवा आदि करना चाहिये।

गुरुकुल-प्रणालीके अभावमें गुरुके आश्रमपर ही उनकी आज्ञासे वेदका अध्ययन करना चाहिये; बालपनमें ही यह हो सकता है। फिर नहीं होता; क्योंकि बादमें उमर बड़ी हो जाती है। इसलिये बालक-अवस्थामें ही विद्याभ्यास अच्छा होता है। ब्रह्मचारियोंको किसीके साथ हँसी नहीं करनी चाहिये। पूर्ण इन्द्रिय-संयम रखना चाहिये। कभी भी स्त्रियोंकी चर्चा और स्त्रियों या लड़कियोंके साथ किसी प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। विद्यामें वेदान्त उत्कृष्ट है। संस्कृत देववाणी है। उसके साथ व्याकरण-कोष आदि पढ़ना चाहिये; क्योंकि हमारे सब शास्त्र संस्कृतमें हैं और उनका भाव भी उन्हींकी समझमें आता है, जो लोग उन्हें पढ़ते हैं। जीविकाके लिये राष्ट्रकी जो भाषा हो, उसे सीखकर अपना जीवन-निर्वाह करे।

शक्ति और बल प्राप्त करनेके लिये व्यायाम तथा दूधका सेवन करना चाहिये। यह ब्रह्मचारियोंके लिये उत्तम वस्तु है। ब्रह्मचारियोंके लिये दूधके समान पौष्टिक कुछ नहीं है। ब्रह्मचारियोंको मिथ्या वचन नहीं बोलना चाहिये। सत्यको ही प्राण समझे और सबको परमात्माका रूप समझे।

सत्य बराबर तप नहीं झूँठ बराबर पाप।
जाके हिरदे सत्य है ताके हिरदे आप।।

और अपने साथी बालकोंके साथ परस्पर प्रेमका व्यवहार करे, किसीको गाली नहीं दे, लड़ाई नहीं करे। कोई परस्पर लड़े तो गुरुसे कह देना चाहिये जिससे उसको दण्ड मिले और उसका सुधार हो जाय। किन्तु ईर्षासे दण्ड नहीं दिलाना चाहिये। अपने द्वारा किसीको तकलीफ नहीं देनी चाहिये। और यह ध्यानमें रखना चाहिये कि चोरी-छिपाव नहीं करना, मनकी चोरी और भीतर बाहरके भावमें अंतर नहीं होना चाहिये। अपनी गलती स्वीकार कर लेनी चाहिये। दूसरोंकी वस्तु धूलके समान समझनी चाहिये। अपनेसे जो बड़े हैं, उनकी अपने शरीरसे सेवा करे, उनके चरणोंमें प्रणाम करे, उनकी आज्ञा पालन करे। ब्राह्मण, देवता, गुरु आदिको प्रणाम नित्यप्रति करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे बहुत लाभ होता है, उनके आशीर्वादसे आयु-बलकी वृद्धि होती है। धर्म-पालनसे धर्मकी वृद्धि होती है।

शरीरसे जितनी बन सके उतनी माता-पिता की सेवा करनी चाहिये। उनकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम नहीं करना चाहिये। यदि अपने शरीरके चमड़ेकी जूती बनवाकर माता-पिताको पहनावे तो भी लड़का उनसे उऋण नहीं हो सकता।

माता-पिताकी सेवाके लिये भीष्मजीके जीवनके आदर्शका पालन करना चाहिये। देखो, भीष्मजीको काल भी नहीं मार सका। उन्होंने परशुरामजीको भी युद्धमें परास्त कर दिया। भीष्मजी शास्त्रज्ञाता, धीर-वीर पुरुष थे। पिताके सुखके लिये भीष्मजीने अपना सुख छोड़ दिया। पिताजीने उसकी सच्ची भक्ति देखी और मुग्ध हो गये। उन्होंने इच्छामृत्युका वरदान दिया। महाभारतमें भीष्मकी हार नहीं हुई। उन्होंने यह शक्ति प्राप्त कर ली थी कि अपनी मृत्यु किस प्रकार होगी, सो भी उन्होंने अपने मुँहसे बतला दिया। भीष्मजीकी महिमा अद्भुत है। बात यह थी कि भीष्मजी जहाँ जाते थे, वहीं विजय होती थी। अतएव ब्रह्मचारियोंको इनका जीवन सदैव सामने रखना चाहिये। ब्रह्मचारियोंको कुव्यसनसे बचना चाहिये। बीड़ी, तमाकू आदिका न तो नाम ही लेना चाहिये और न ऐसी वस्तुओंके सेवन करनेवालेका संग ही करना चाहिये।

बस, प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये कि "**दुष्ट संग जनि देहु विधाता**" और यह भी कहे— 'प्रभु मैं चाहता हूँ कि आपका ही स्मरण निरंतर हो तथा राग-द्वेष काम-क्रोध आदि मेरे हृदयमें नहीं आयें।'

बच्चोंका आरम्भसे ही ऐसा संस्कार होनेसे उनका कल्याण होता है। बालकोंका हृदय कोमल होता है, इसलिये इसी अवस्थामें उनका राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि छुड़ा देना चाहिये। माता-पिताकी परमसेवासे दुनियाँका कोई भी कार्य दुर्लभ नहीं रहता है। वही बालक धन्य है जिसकी कीर्ति हो। प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि जिन माता-पिताका लड़का नीच है उनसे कोई उस लड़केके सम्बन्धमें पूछता है तो वे उसे कंसका अवतार बतलाते हैं। तो इस प्रकार जिनकी अपकीर्ति होती हो ऐसे लड़कोंको नरक होता है।

ब्रह्मचारियोंको महापुरुषोंका आदर्श पालन करना चाहिये। अच्छे सुपात्र लड़केके लिये— 'श्रवण' का आदर्श है। श्रवणकुमार माता-पिताकी सेवामें रामसे भी बढ़कर हैं। मरते-मरते तक माता-पिताने श्रवणकी सेवाकी बड़ाई की और कहा कि इसने हमारी सेवाके लिये सब कुछ छोड़ रखा है तो ऐसे सेवक पुत्रके बिना जीना बेकार है, तो श्रवणकी सेवाके मोहमें माता-पिता जीवित ही मर गये। धन्य है श्रवणकी माता-पिताकी भक्ति! ब्रह्मचारियोंको विचार करना चाहिये कि माता-पिताकी सेवा करनेसे आज उनका नाम दुनियाँमें पवित्र हो रहा है और दूसरोंको पवित्रकर रहा है। ब्रह्मचारियो! तुमको भी शिक्षा लेनी चाहिये।

यही ब्रह्मचारियोंके ध्यान देनेकी बात है।

अहङ्कारका नाश, ईश्वर-भक्ति और ज्ञान— इन साधनोंसे हो सकता है। यदि अहङ्कारका नाश हो जाय तो समझो सब दुर्गुणोंका नाश हो गया; क्योंकि यही सबका सरदार है। ज्ञानी ज्ञानद्वारा इसका नाश समझता है; क्योंकि 'अंतवंत इमे देहाः' —हे अर्जुन! यह आदि-अंतवाली देह है और आत्मा नित्य है। इसलिये युद्धकर। यह शरीर क्षणभंगुर है। इसके पहले कहा कि—

'अशोच्यानन्वशोचस्त्वंप्रज्ञावादांश्च भाषसे।'

(गीता २। ११ पूर्वार्द्ध)

और भी ज्ञानी समझता है कि—

आज कालकी पांच दिन जंगल होगा वास।
ऊपर ऊपर हल फिरे ढोर चरेंगे घास।।

यह शरीरकी दशा है। आत्मा तो शरीरके नाश होनेपर भी नहीं नष्ट होता। 'अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना' —तो धीर पुरुष इसलिये रोते नहीं हैं; और यह भी कहा— '**तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही**' और संसारके

भोगोंको (गीताके ५। २२में) बतलाया है कि—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।

जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी निःसंदेह दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं; इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान्, विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।

इस प्रकार भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन ! तू शोक मतकर।' श्रीरामचन्द्रजीका भी ताराको यही उपदेश है कि——

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित यह अधम सरीरा।।
प्रगट सो तनु तव आगे सेवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा।।

ऐसा जब श्रीरामचन्द्रजीने समझाया तो उसको ज्ञान हो गया—

'उपजा ज्ञान चरण तब लागी'

इसलिये सोचना चाहिये कि शरीरमें जो अहङ्कार है, वह मूढ़ता है। ज्ञान होता है तब अहङ्कार नहीं होता। अहङ्कार तो देहको आत्मा माननेसे होता है। किन्तु ख्याल करनेकी बात है कि इस देहकी उत्पत्ति एक बूँदसे हुई और अंतमें राख हो जायेगी। इसलिये अज्ञानसे ही अहङ्कार होता है।

हम जिसे 'मैं' कहते हैं, सो इस 'मैं' का कुछ पता लगाओ तो कहीं नहीं लगता। जो कहता है कि हाथ मेरा है तो वह हाथको तो अपनेसे अलग ही मानता है यानी अपनी वस्तु मानता है, इसीप्रकार ज्ञान होनेपर बादमें शरीरके साथ कुछ मोह नहीं होता।

जैसे किसीका नाम रामानन्द है, किंतु वह गर्भमें रामानन्द नहीं था तो केवल अभिमान होनेसे रामानन्द नामको कोई कुछ कहता है, तो बड़ा दुःखी होता है। कारण है— अज्ञान। जैसे स्वप्नका अभिमान झूठा है, ऐसे ही इस शरीरका अभिमान भी झूठा है, क्यों? '—**नासतो विद्यतेभावः**'। अब भक्तिद्वारा अहङ्कारका नाश बतलाते हैं। जब वह भक्ति करता है तब वह कहता है कि 'मैं दास हूँ' तब भी कुछ अहङ्कार रहता है। परन्तु जब वह अपनेको रजसे भी कम मानता है तो अहङ्कारका नाश हो जाता है; तब वह कहता है कि हजारों इन्द्र हो गये, किन्तु किसीका पता नहीं है।

कबिरा नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय।
फिर तुम पट्टन यह गली बहुरि न देखो आय।।

योगसे भगवत्प्राप्ति

चित्तको भगवान्में जोड़नेका नाम योग है। यहाँ जो कुछ है सब परमात्मासे उत्पन्न हुआ है। परमात्मा सर्वत्र अव्यक्तरूपमें व्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, अविनाशी, अनादि आदि गुणोंवाले हैं, उनको भजकर मैं उन्हें प्राप्त करूँगा। वे मेरे सर्वस्व हैं, मुझे वे तारेंगे— इस भावनासे चित्तको भगवद्भक्तिसे भगवान्में जोड़नेका नाम योग है। चित्त जिसके लिये उत्सुक होता है उसे पाता है। इस प्रकार चित्त भगवान्के लिये उत्सुक होकर भगवान्में लीन हो जाता है। और आत्मा तो परमात्मस्वरूप यानी भगवत्स्वरूप है ही, इसलिये कह सकते हैं कि चित्त आत्मामें लीन हो जाता है। इस मार्गके साधकका जब चित्त व्याकुल होता है या उसे कोई इच्छा होती है, तब उसके लिये वह अपने उपास्य भगवान्की शरण लेता है। और परमात्मा तो कल्पतरु है। उसका आश्रय लेकर जो इच्छा करता है वह पाता है। अतएव इस प्रकार भक्तियोगवाला अस्त-व्यस्त होकर काम करता हुआ भी आखिर भगवान्को प्राप्त करता है।

बसो मेरे नैननमें नंदलाल

(लेखक--डॉ० श्री मृत्युंजयजी उपाध्याय)

एक समुद्रकी कल्पना की जाय और उसमें मात्र जहाज एकको भी। समुद्र असीम है ही। संयोगवश एक कौआ उड़कर आता है और जहाजके मस्तूलपर बैठ जाता है। फिर उड़ता है-उड़ता रहता है। कोई अवलम्ब नहीं, ठौर नहीं। हारकर उसी जहाजपर आकर बैठता है। यह कौआ है जीवका प्रतीक, सागर है भवसागर, जिसमें चौरासी लाख योनियाँ होती हैं। जहाज है परमात्मा, जिसके ही अवलम्बनसे जीव तर सकता है। सूरदास इस भावको व्यक्त करते हैं—

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पर आवै।।

हमारी यह काया भी एक प्रकारकी नौका ही है।

यह काया-नौका संसार-सागरसे पार हो जाय, इसके लिये पतवारकी आवश्यकता है और अनुकूल वायुकी; तभी नाव सागरको तय कर सकती है। यदि नामकी पतवार हो और भक्तिकी वायु चल जाय तो शरीररूपी नौकाको संसार-सागरसे पार होनेमें कोई बाधा नहीं है। बिंदुजी महाराजने ठीक ही कहा है—

पतवार नाम की लेंगे हम, भक्ति की वायु चलायेंगे।
इस युक्ति से काया नौका, भवसागर पार लगायेंगे।।

यहाँ दो शब्दोंपर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है। पहला शब्द है— 'युक्ति' और दूसरा 'भवसागर पार लगाना'। युक्तिका अर्थ है— तरीका, तरकीब, ढंग, व्यवस्था, उपाय; परंतु यहाँ इसके अन्तर्गत वह पूरी साधना-पद्धति है, जिससे प्रत्येक साधकको आत्मसात् करना पड़ता है। प्रत्येक साधक भक्तके मनमें यह भाव कैसे आयेगा कि वह संसार-सागरसे तर जाय और नाम तथा भक्तिका सहारा ले? इसके पीछे दो कारण हो सकते हैं— (क) वह (साधक) अपनेको पहचान ले— अपने जीवनके वास्तविक उद्देश्यको समझ ले और (ख) संसारको त्यागकर विराट्से मिलनेकी उत्कृष्ट इच्छा करे।

इसका तात्पर्य हुआ कि वह अहर्निश अपनेको पहचाननेकी चेष्टा करता है और अन्तमें इस परिणामपर पहुँचता है कि वह परमात्माका ही अंश है तथा उसे देर-सबेर फिर उसीमें मिल जाना है। इस आत्मबोधके साथ मिलनकी आकुलता बढ़ती जाती है। विरह पराकाष्ठा पर पहुँचता जाता है। नामकी रट बढ़ती जाती है। दशा यहाँतक आ जाती है कि—

अँखिया तो झाईं पड़ी, पंथ निहार निहार।
जीहड़िया छला पड़ा. नाम पुकार पुकार।।

--कबीर वचनावली

प्रतीक्षामें पथरा जाती हैं आँखें। आँखोंमें अनेक बार झाईं पड़ जाती है—बाट जोहते-जोहते। अनेक बार पूजाके फूल मुरझा जाते हैं, पर प्रतीक्षाका देवता नहीं पिघलता, नहीं पसीजता। फिर भी— **'गिरि-पथका अथक पथिक ऊपर ऊँचे सब झेल चले'**— (प्रसाद-)के अनुसार साधक नहीं रुकता। वह निरन्तर आगे बढ़ता ही रहता है। रास्तेमें बाधाएँ आती हैं, कठिनाइयाँ आती हैं, क्योंकि कंटकित मार्ग है। कठिन चढ़ाइयाँ हैं। यह फिसलन भरा है मार्ग। यह बड़ा संकरा है, फिर भी साधक चला जा रहा है—

मिलना कठिन है, कैसे मिलौगी प्रिय जाय।।
समुझि-समुझि पग धरौ जतन से बार-बार डिगि जाय।
ऊँची गैल, राह लपटीली पाँव नहीं ठहराय।।

--कबीर वचनावली

भक्तके मार्गमें बाधाएँ-ही-बाधाएँ हैं, पर वह हतप्रभ कहाँ होता है? कृष्णकी दीवानी मीरा, राजकुलोत्पन्न महाराणाकी धर्मपत्नी, मर्यादा-शीलताकी बेड़ियोंमें जकड़ी, पग-पगपर अनुशासनादेश एवं वर्जनाओंका कड़ा पहराके रहते जब पंचतत्त्वोंका घुँघरू पहनकर नाच उठी, तब माया-मोहकी धूल उड़ गयी, राजसीपन तिनकेके

समान विलीन हो गया, कुलमर्यादा ओसके समान छूमंतर हो गयी। उसकी तान जब सँभाले नहीं सँभली, तब वह **'गिरधर आगे नाचूँगी'** के साथ नाच उठी। वह अपनी आँखोंमें कृष्णकी श्यामली सलोनी मूर्ति बसानेके लिये मचल उठी—

बसो मेरे नैनन में नंदलाल ।
स्यामली सूरत मोहनी मूरत नैना बने बिसाल।।

भक्त-हृदयकी यह विह्वलता उसे भवसागरसे पार करा देती है।

नाम-स्मरण पतवार है, जिसके बिना नाव आगे नहीं बढ़ सकती। यदि नाम-स्मरण चल रहा है, पर वह श्रद्धाविह्वल होकर नहीं चल रहा है, भक्तिके साथ नहीं है तो फिर निष्फल है। नाम सही-सलामत रहे, पतवार ठीक चल रही हो, पर प्रतिकूल आँधीका सामना करना पड़ रहा हो तो नाव बढ़ेगी क्या, वह उलटकर जल-समाधि ले लेगी। इसलिये अनुकूल वायुकी महती आवश्यकता है। वही है भक्ति। शुद्ध अन्तःकरणमें ही उसका उदय होता है। 'भक्ति' विभक्त नहीं करती, प्रत्युत अविभक्त करती है, जोड़ती है, मिलाती है; भेद-अभेदका दर्शन कराती है; वह अधोमुखी चेतनाको ऊपर उठाती है। फिर भक्त और भगवान्का अन्तर नहीं रह जाता। दोनों एक हो जाते हैं; तादात्म्य स्थापित हो जाता है। भक्त भी तद्रूप हो जाता है।

जब भक्ति उड़ाती मानस को ऊँचे की ओर।
भगवान् स्वयं आ मिलते हैं, खिंचे प्रेम की डोर।।

सच पूछिये तो भगवान् सदा भक्तोंके हृदयमें विराजते हैं। जहाँ भी भक्त उन्हें पुकारते हैं, वहीं वे मौजूद रहते हैं।

एकबार भगवान्से नारदजीने पूछा—'भगवन्! आप कहाँ रहते हैं।' भगवान्के होठोंपर स्मित-हास्य फैल गया और उन्होंने कहा—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।

अतः शुद्ध सच्ची कीर्तन-भक्तिसे परमात्माका मिलन निश्चित है।

भवसागर पार करनेका अर्थ है—चौरासी लाख योनियोंमें आवागमनके झंझटसे मुक्ति। इसे ही मोक्ष, निर्वाण, मुक्ति कैवल्य नाम दिये गये हैं। 'निर्वाण' का अर्थ होता है—दीपकका बुझ जाना, अर्थात् कोई कामना, आकांक्षा, वासना शेष न रह जाय—सब शमित हो जाय, बुझ जाय, मिट जाय, गल जाय। पर जीवनमें रहकर ऐसा सम्भव नहीं है। महान् ऋषि-योगीके मनमें भी कहीं कोई इच्छा शेष रह जाती है। तब इसे मिटानेका क्या उपाय है? वही भक्ति, प्रपत्ति ग्रहण करना, शरणागत होना—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।
(गीता १८। ६६)

समर्पणके प्रभातके फूटते ही भक्तके सारे कर्म-अकर्म भगवान्के चरणोंमें समर्पित हो जाते हैं। भक्त निमित्तमात्र रह जाता है। यही भगवान् कहते हैं— **'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'** (धनंजय! तुम निमित्त भर हो जाओ)। शरणागतका नियमन तो प्रभु स्वयं करते हैं। वह अपने द्वारा संचालित, प्रेरित और सम्बलित होता है। ऐसी दशामें भक्तके कर्मोंके संस्कार बनने और उसकी इच्छा-अनिच्छाका प्रश्न ही नहीं उठता। व्यवसायात्मिका बुद्धिद्वारा कर्म हो तो वह प्रभावक नहीं होता है, वह अपने फलसे आप्यायित नहीं करता है। तब विदेह की स्थिति आ जाती है और वह कर्मके काजलकी ऐसी कोठरीसे भी बेदाग निकल आता है। समुद्रकी लहरोंपर चलनेपर भी उसपर पानीका स्पर्श नहीं होता। ऐसे पुरुष ही विदेह कहलाते हैं।

सांसारिकतामें रहकर गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए हम प्रभुके प्रति अनुरक्त हों, सच्चे भक्त बने रहें और निशिदिन उनका नामस्मरण करते रहें—इसकी बड़ी आवश्यकता है। यही कर्तव्य है—

सुमिरणकी सुधि यों करो, ज्यों सूईमें डोर।
कहै कबीर छूटै नहीं चले ओर की ओर।।

——कबीर वचनावली

परंतु इसके लिये प्रारम्भिक साधनामें ही त्याग भी करना होगा, कुसंगति छोड़नी होगी, हरि-विमुखका साथ छोड़ना होगा। तभी हमारा कल्याण, मंगल हो सकेगा। हमारा इतिहास इसका साक्षी है—

तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यौ, कंत ब्रज बनितन्हि, भये मुद मंगल कारी।।

(विनयपत्रिका ७४। २)

हमारी अधोगामिनी वृत्तियोंको पाताल नापनेकी जगह ऊर्ध्वमुखी बनानेका अवसर मिले, हमारी कामनाओंके अजस्र प्रवाहको शील-मर्यादाके तट मिलें, हम वासनाओंको हठपूर्वक दबानेकी जगह उनका परिमार्जन कर सकें— इसके लिये सबसे उपयुक्त स्थल घर ही है। गार्हस्थ्य धर्म ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। हमारे दर्शनमें गार्हस्थ्यके कर्दममें ही आध्यात्मके कमल खिलते हैं। बस इतनी ही आवश्यकता है कि '**एक भरोसो एक बल, एक आत्म बिस्वास**' का दामन पकड़कर हम सच्चे भक्त बने रहें। हमारे योग-क्षेमका वहन करनेवाले प्रभु तो सदा तत्पर हैं ही।

अर्जुनका मोह

कुलके क्षयसे सत्य-सनातन कुलधर्मोंका होता नाश।
धर्मनाशसे सारे कुलमें होता सहज अधर्म-विकास।।
हो जातीं अधर्मयुत कुलकी स्त्रियाँ सुदूषित कृष्ण महान।
वार्ष्णेय ! वे जनतीं दूषित स्त्रियाँ वर्णसंकर सन्तान।।
कुलका कुलघातकका संकर करवाता नरकोंमें वास।
होता पतन पितृगणका भी पिण्ड-उदक होनेपर नाश।।
कुलघातकके वर्णसंकरी इन दोषोंके ही परिणाम।
जातिधर्म कुलधर्म सनातन हो जाते विनष्ट हे श्याम।।
सुनते हैं हम हो जाता है जिनके कुलधर्मोंका नाश।
होता अनियत दीर्घकालतक उनका निश्चय नरक-निवास।।
अहो ! शोक ! हम आज जा रहे निश्चय करने पाप महान।
स्वजनोंके वधको उद्यत, हो विवश राज्यसुख लोग अमान।।
मुझ अशस्त्र प्रतिकार-रहितको यदि वे रणमें डालें मार।
शस्त्र हाथ ले कौरव, तो होगा मेरा कल्याण अपार।।
यों कहकर अर्जुन रणमें हो शोकाकुल मन तज शर-चाप।
बैठ गये हटकर वे रथके पिछले भाग मध्य चुपचाप।।

भगवान्‌के दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन-७

(नित्य लीलालीन श्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

भगवान्‌के चरणोंमें शङ्ख है। शङ्ख भगवान्‌का विशेष आयुध है। यह सदा विष्णुरूप भगवान्‌के हाथमें रहता है। शङ्ख विजयका चिह्न है। जिसके हृदयमें भगवान्‌के चरण रहते हैं, वह सबपर विजयी हो जाता है। उसके सारे विरोधी-भाव शङ्खध्वनिसे नष्ट हो जाते हैं।

भगवान्‌के चरणोंमें ऊर्ध्वरेखा है। जिस किसीके चरणमें ऊर्ध्वरेखा होती है, वह सामुद्रिक विज्ञानके अनुसार सदैव ऊँचेकी ओर बढ़ता जाता है। उस मनुष्यकी दृष्टि भी ऊँचेकी ओर हो जाती है। जिसके हृदयमें भगवान्‌के चरण आ बसे, उसकी गति और दृष्टि ऊर्ध्व हो गयी, वह सीधे ही गन्तव्य स्थानको पहुँच जाता है।

भगवान्‌के चरणोंमें राजा बलिका चिह्न है। भगवान् बलिको ठगने गये थे, परंतु अपने-आप ठगा आये और सदा बलिके द्वारपर रहना पडा! भगवान्‌ने बलिके मस्तकपर अपने देवदुर्लभ चरण रख दिये—इतना ही नहीं, चरणोंमें ही बलिको स्वीकार कर लिया। बलिका शरीर भगवान्‌के चरणोमें अंकित हो गया। इससे बढ़कर सौभाग्यकी बात क्या हो सकती है? बलिको पहले ऐश्वर्य-मद था। प्रह्लादने समझाया, पर बलि क्यों समझने लगते? निदान, प्रह्लादने देखा कि बीमारी बढ़ गयी; अतः भगवान्‌का स्मरण किया। भगवान्‌ने आकर बलिके सारे राज्य और शरीर तकको नाप लिया। भगवान्‌का व्यवहार शत्रुके साथ भी वैसा ही होता है जैसा माँका बच्चेके साथ। भगवान् जिसपर अनुग्रह करते हैं, उसका धन हर लेते हैं और सांसारिक कार्यमें उस व्यक्तिको पूर्णतया असफल कर देते हैं। संसार तो सफलताका ही पुजारी है, अतः उस असफल व्यक्तिपरसे आँखें हटा लेता है। असफल व्यक्तिके लिये घरवाले भी 'अपने' नहीं होते। उस घोर तिरस्कारकी स्थितिमें तीव्र वेदना होती है। उस वेदनामें भगवान्‌का सहज स्मरण होता है; क्योंकि वे ही एकमात्र शरण्य रह जाते हैं। इस दशामें वह सर्वथा एकमात्र भगवान्‌का आश्रय लेता है। जैसा रोग होता है, भगवान् वैसी ही दवा देते हैं। बलिका सर्वस्व हरणकर लिया और सुदामाको सबकुछ दे दिया। बलिका राजमद हर लिया परंतु हरे गये स्वयं। अपने आप भगवान् बलिके दरवाजेपर सदा खड़े रहते हैं। बलिने अपनी पीठ नपवा दी। जो सब प्रकार अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पणकर देता है, उसके साथ भगवान् सदाके लिये बस जाते हैं।

भगवान्‌के चरणोंमें दर्पणका चिह्न है। दर्पणमें प्रतिबिम्ब दीखता है। यह जगत् भगवान्‌का प्रतिबिम्ब है। यह सर्वत्र भगवान्-ही-भगवान् है। जो जितना ही सजकर दर्पणके सम्मुख खड़ा होता है उसे उतना ही अधिक भगवान् आनन्द देते हैं और वह छवि कई गुना करके लौटा देते हैं। छविको दर्पण रखता नहीं, वरन् आनन्दको बढ़ाता है और छविकी उत्कृष्टताको बढ़ा देता है। दर्पण शोभा दिखलानेका निमित्त मात्र होता है। भगवान्‌को प्रेम देकर जो उन्हें सुखी करना चाहते हैं वे प्रेम और आनन्द प्रदान करनेवालेको ही कोटि गुना सुखी कर देते हैं। साधकके आनन्द और सुखको बढ़ानेके लिये भगवान् पूजा स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त दर्पणके सामने जो जैसा जाता है, दर्पण उसे वैसा ही रूप लौटा देता है। भगवान्‌के चरणोंमें जो जिस भावसे जायगा भगवान् उसका वह भाव उसी रूपमें प्रदान करेंगे।—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**' जिसके जैसे कार्य होते हैं उसका फल भी वैसा ही होता है—दर्पणका यह भी एक भाव है।

भगवान्‌के चरणोंमें सुमेरुपर्वतका चिह्न है। सुमेरुका अर्थ है — जिसका मेरु सुन्दर हो। सुमेरुको

सोनेका पहाड़ भी कहते हैं। सुमेरुके बिना किसी वस्तुकी स्थिति नहीं। सूर्य भी सुमेरुपर ही उगते हैं। अतएव सुमेरु रात-दिनकी संधि है। सुमेरु मालाको व्यवस्थामें रखनेवाला केन्द्र है। सुमेरु स्वर्णमय है। सुमेरुके अन्दर अनन्त धन-राशि छिपी है। जिसे भगवान्‌के चरण प्राप्त हो जाते हैं उसे सारी स्वर्ण-राशि प्राप्त हो जाती है। उसकी जीवनमाला व्यवस्थित हो जाती है। वह जीवन-मृत्युकी संधिको समझ जाता है। इस सुमेरुको ही कुछलोग गोवर्धन मानते हैं, जिसे भगवान्‌ने नखपर उठाया था। भगवान्‌ने उसे सदाके लिये अपने चरणोंमें बसा लिया है।

भगवान्‌के चरणोंमें घंटिका है। यह भगवान्‌की विशेष वस्तु है। करधनीमें भी छोटी-छोटी घंटी लगी रहती है। नूपुरके साथ यह भी बजती है। इसका तान्त्रिक अभिप्राय भी है। पूजामें यह अत्यन्त आवश्यक उपकरण है। अनहद नादमें दस प्रकारके स्वर क्रमशः होते हैं। इसमें तीसरा स्वर घंटिकाका होता है। घंटी '**क्लीं क्लीं क्लीं**' का उच्चारण करती है। यही श्रीकृष्णका महाबीज—प्रेमबीज है।

यह बीज घंटिकाके रूपमें आया है। इसीलिये पूजाका प्रधान उपकरण है। यह जगत्-प्रसविताका मूर्तिमान् आकार है। इसीलिये भगवान्‌के चरणोंमें इसे स्थान प्राप्त है।

भगवान्‌के चरणोंमें वीणाका चिह्न है। मुरलीको छोड़कर वीणा भगवान्‌की विशेष वस्तु है। उसे भगवान्‌ने नारदको प्रदान किया था। वाद्योंमें सबसे प्राचीन वीणा है। वीणामें सारे स्वर एक साथ हैं। यह आदिवाद्य है। गायनकी विभूतिरूपमें इसे भगवान्‌के चरणोंमें स्थान मिला है। वीणा भगवान्‌का नाम गाती है। जिसके हृदयमें भगवान्‌के चरण हैं उसे सर्वदा और सर्वत्र वीणाका स्वर सुनायी पड़ता है।

भगवान्‌का स्वभाव

मैं नित भगतन हाथ बिकाऊँ।
आठौं जाम हृदयमें राखूँ पलक नहीं बिसराऊँ।।
कल न परत बैकुंठ बसत मोहि, जोगिन मन न समाऊँ।
जहँ मम भगत प्रेम-जुत गावहिं तहाँ बसत सुख पाऊँ।।
भगतन की जैसी रुचि देखूँ तैसो बेष बनाऊँ।
टारूँ अपने बचन भगत लगि, तिन के बचन निभाऊँ।।
ऊँच-नीच सब काज भगतके निज कर सकल बनाऊँ।
पग धोऊँ, रथ हाँकूँ, माँजूँ बासन, छानि छवाऊँ।।
माँगू नाहिं दाम कछु तिन तें, नहिं कछु तिनहिं सताऊँ।
प्रेमसहित जल, पत्र, पुष्प, फल—जो देवै सो खाऊँ।।
निज 'सरबस' भगतनको सौंपूँ, अपनो स्वत्व भुलाऊँ।
भगत कहैं सोइ करूँ निरन्तर, बेचैं तो बिक जाऊँ।।

भगवान्से क्या माँगें?

(लेखक—आचार्य डॉ० श्रीकेशवरामजी शर्मा, एम०ए०, साहित्याचार्य, पी-एच०डी०)

'मांगन गया सो मर गया, मरे सो मांगन जाय'

यद्यपि इस नीति-वाक्यके अनुसार माँगना निकृष्ट कर्म है तथापि अपने पालनकर्तासे अपना स्वत्व ग्रहण करना संसृतिका शाश्वत धर्म है। यद्यपि वह परम पिता बिना माँगे भी हमें निहाल करता है, तथापि आवश्यकतानुसार उस प्रभुसे वाञ्छित कुछ माँग लेना कोई अनुचित कार्य नहीं है। किन्तु इसके विपरीत यदि शिशु भूख लगनेपर रोकर अपनी मातासे कुछ न माँगे, बालक अपनी पढ़ाई-लिखाई, भोजन-वस्त्र, स्वास्थ्य आदिके संदर्भमें अपने माता-पितासे आवश्यकतापूर्तिके लिये निवेदन न करे, और अवस्थाके अनुसार विविध वैयक्तिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये अपने बड़ोंकी सहायता न माँगे तो समाजका ढाँचा ही बिगड़ जाय। स्पष्ट है कि जिस प्रकार माता-पितासे माँगना बच्चेका अधिकार है, ठीक उसी प्रकार जीवनभर उस परम पितासे माँगनेका— अनुनय-विनय, प्रार्थना करनेका प्राणिमात्रका अधिकार है।

अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि उस प्रभुसे हम क्या माँगें? संसारके प्राणी अधिकतर प्रेम मार्गके पथिक हैं, अतः अपनी प्रवृत्तिके अनुसार वे उस परमेश्वरसे धन-जनकी कामना करते हैं। जो धनहीन हैं, उन्हें धन चाहिये और पुत्रहीनकी एकमात्र लालसा पुत्र पानेकी रहती है। हमारे जप-तप, व्रत-अनुष्ठान, पूजन-अर्चन, दान-पुण्य आदिका एक ही लक्ष्य होता है— ऐसे भौतिक सुखोंकी उपलब्धि। हमारे इष्टदेव गुरुदेव हों या राम; चाहे कृष्ण, दुर्गा, हनुमान्, बुद्ध, महावीर, अल्ला, यीशु कोई भी हों; हम उनसे भाँति-भाँतिकी भौतिक वस्तुओंके लिये विनती करते हैं और वे उन्हें पूर्ण करते हैं। इस दिशामें सभी मनुष्योंके अपने-अपने अनुभव हैं। किसीका काम हनुमान्जीको प्रसाद चढ़ानेसे बनता है, किसीका देवीके अनुष्ठानसे भला होता है, तो किसीका कल्याण अपने गुरुदेवकी शरणमें जानेसे होता है।

वे अन्तर्यामी प्रभु हमारी भावनाओंको पहचानते हैं। जो उस मायापतिसे माया माँगता है, उसे माया मिलती है और जो कबीरकी भाँति इस मायारूपी खिलौनेसे संतुष्ट नहीं होता उस भक्तको वे करुणावरुणालय अपनी प्रीति-भक्ति देते हैं एवं अपने दर्शनसे कृतार्थ करते हैं। कबीरने इस प्रसङ्गका इस प्रकार चित्रण किया है—

पूत पियारा पिता को, गोहन लागी धाय।
खाँड मिठाई हाथ दे, आपन लिया बचाय।।
डारी खाँड पटक करी, अंतर रोष उपाय।
रोवत-रोवत मिल गया, पिता पियारे जाय।।

सामान्य लोग जीवनभर मायाके खिलौनोंसे खेलते रहते हैं। माता भी जब अपने काममें लगी होती है, तब बच्चेको खिलौना देकर बहला देती है, किंतु जब कोई बच्चा उस खिलौनेको फेंककर माताका प्यार पानेको छटपटाता है, तब माताको विवश होकर उसकी इच्छा पूर्ण करनी पड़ती है। ध्रुव, प्रह्लाद, नामदेव, धन्ना आदिके असंख्य उदाहरण हैं, जो अपने प्रभुको पाकर ही शान्त हुए। वे मायाके खिलौनोंमें नहीं फँसे।

कहनेका आशय यह है कि परमात्मा तो सर्वभावेन सब कुछ देनेमें समर्थ हैं, पर यह माँगनेवालेकी बुद्धिपर निर्भर करता है कि वह इच्छापूर्तिकी याचना अपने कल्याणके लिये कर पाता है या नहीं? अज्ञानी व्यक्ति कल्पवृक्षके नीचे भी भूखा रह जाता है तो दोष उसकी बुद्धिका होता है। इसमें कल्पवृक्षकी प्रतिष्ठाको कोई आँच नहीं आती। यदि **'परम गंग को छाड़ि पियासो, दुर्मति कूप खनावै'** तो

इसमें गङ्गा नदीका क्या दोष है? सच बात तो यह है कि हमें न मौन रहने आता है और न माँगने ही। यदि हम— 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये'[1]। के भावसे आत्मनिवेदन-वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करें और परमात्मासे कभी कुछ न माँगें तो वे स्वयं ही हमारा कल्याण करेंगे। दूसरी ओर यदि हमारी कुछ माँगनेकी ही आदत बन चुकी है तो प्रभुसे उनकी अनपायिनी भक्ति ही माँगे— 'भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे।' अन्यथा हीरोंकी खानमें रहकर भी हम अज्ञानवश दरिद्र ही बने रहेंगे। यह ध्यान रहे कि प्रभुको पा लेनेपर हमारे लिये कुछ भी प्राप्य नहीं रह जायगा। रहीम कविने कहा भी है—

प्रभुता को सब कोइ भजै, प्रभु को भजै न कोय।
जो रहीम प्रभु को भजै, प्रभुता चेरी होय।।

हम क्षण-भंगुर सांसारिक वस्तुओंको पानेके लिये छटपटाते हैं। धन-वैभवकी प्राप्तिके लिये अनेक प्रपञ्चोंका आश्रय लेते हैं, पर तत्त्वको नहीं पकड़ते। हमारी सब प्रकारकी अभिलाषाएँ उन प्रभुकी प्रभुता-(माया-) का ही प्रसार हैं। सद्गुरुकी कृपासे जिस साधकके प्रज्ञाचक्षु खुले होते हैं, वह मायाकी उपेक्षा करके मायापतिको— वास्तविक तत्त्वको— पकड़ता है। प्रभुसे सीधा सम्बन्ध होजानेपर उनकी दासी माया स्वतः ही अपने सारे ऐश्वर्यसहित साधककी सेवामें उपस्थित होती है, पर प्रभु-प्राप्त साधक तो उसे कबीरके शब्दोंमें— 'माया महा ठगिनि हम जानी' कहकर फटकार देता है। उसे प्रभु मिल गये, सब कुछ मिल गया— 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं नाधिकं मन्यते ततः।'

सच्चा सुख विषय-वासनाओंको पानेमें नहीं, अपितु उन्हें ठुकरानेमें है। हमारे पूर्वजोंने इसीलिये तो कहा था— 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः।'[2] निःस्पृह होना हमारी सबसे बड़ी सिद्धिदायिनी साधना है। बस, निर्णय हमें करना है कि हम उस परम निधिके भागीदार बनना चाहते हैं या यों ही दर-दरके भिखारी और दीन बने रहना चाहते हैं? हम माया-मोहमें डुबकी लगाना चाहते हैं या मायापतिसे नाता जोड़कर भवसागरसे पार जाना चाहते हैं? हम 'माया सबल धाम, धन, बनिता, बांध्यौ हौं इहि साज' की स्थितिमें रहना चाहते हैं या श्रेयोमार्गके पथिक बनकर अपना उद्धार करना चाहते हैं? ये प्रश्न सभी जिज्ञासुओंके प्रति हैं, जिनका उत्तर प्रत्येकको अपने लिये स्वयं सोचना है। उसी उत्तरमें उसका परम कल्याण है।

'तुलसिदास प्रभु-कृपा-कालिका'

सुमिरु सनेह-सहित सीतापति। रामचरन तजि नहिंन आनि गति।।१।।
जप, तप, तीरथ, जोग, समाधी। कलिमति-बिकल, न कछु निरुपाधी।।२।।
करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रकतबीज जिमि बाढ़त जाहीं।।३।।
हरति एक अघ-असुर-जालिका। तुलसिदास प्रभु-कृपा-कालिका।।४।।

१—'गोविन्द! मैं आपकी वस्तुको आपको ही समर्पित करता हूँ।'
२—'लगोट धारण करनेवाला अर्थात् त्यागी व्यक्ति ही वास्तवमें भाग्यशाली है।'

साधकोंके प्रति—

(सदुपयोगकी महत्ता)

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

परमात्मा ही एक ऐसा तत्त्व है कि जो उसे चाहे उसको मिल जाय। धन-सम्पत्ति, वैभव, मान, आदर, नीरोगता आदि चाहनेसे मिल ही जायँ—यह नियम नहीं है। परमात्मा केवल चाहनेसे मिलते हैं। धन आदि पदार्थ चाहनेपर, उद्योग करनेपर और प्रारब्धका संयोग होनेपर मिल सकते हैं, पर सबको एक समान नहीं मिल सकते। जब कि परमात्मा तो सबको पूरे-के-पूरे और एक समान मिल सकते हैं; क्योंकि परमात्मा सबके अपने हैं, उनपर सबका समान अधिकार है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (गीता १५। ७)

भगवान्‌ने इस श्लोकमें सब जीवोंको अपना अंश बतलाया है। जीव परमात्माका साक्षात् अंश है अर्थात् परमात्माके साथ सबकी तात्त्विक एकता है, इसलिये परमात्मापर पूरा-का-पूरा हक लगता है—जैसे, सभी बालक अपनी माँकी गोदमें जा सकते हैं। माँके बेटोंका माँपर पूरा हक है; क्योंकि सब मानते हैं कि माँ मेरी है। ऐसे ही परमात्मा सबके माता-पिता हैं। '**त्वमेव माता च पिता त्वमेव**' वे सबके माता-पिता हैं, सदासे हैं और सदा ही रहेंगे। उनकी प्राप्तिमें कोई भी मनुष्य अयोग्य नहीं है, अनधिकारी नहीं है, निर्बल नहीं है। इसलिये किसीको परमात्मतत्त्वसे हताश होनेका किञ्चिन्मात्र भी अवकाश नहीं है।

मैंने जो पुस्तकें पढ़ी हैं, जो विचार किया है, जो सुना है, उससे यह बात बड़ी दृढ़तासे बैठी है कि 'महिमा वस्तु और परिस्थितिकी नहीं है, प्रत्युत महिमा उनके सदुपयोगकी है।' आप चाहे जिस परिस्थितिमें हैं, उसी परिस्थितिमें रहकर परिस्थितिका सदुपयोग करके परमात्म-तत्त्वकी अनुभूति कर सकते हैं। आपकी कैसी ही बुद्धि हो, कैसी ही अवस्था हो, कैसा ही संयोग हो, केवल उसका ठीक तरहसे उपयोग करना है। कारण कि किसी भी वस्तु, अवस्था, योग्यता, परिस्थिति, घटना, सामर्थ्य, क्रिया आदिकी महिमा नहीं है, महिमा है उसके सदुपयोगकी। यदि उपयोग ठीक किया जाय तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाय, हम कृतकृत्य हो जायँ। मनुष्य जन्म मिला ही इसके लिये है। यदि भगवत्प्राप्ति किसी विशेष परिस्थितिके अधीन होती, तब तो एकाध कोई-सा मनुष्य ही भगवत्प्राप्ति कर पाता; परंतु भगवत्प्राप्ति किसी विशेष परिस्थितिके आश्रित नहीं है। हम जहाँ और जिस परिस्थितिमें हैं, वहाँ ही और उस परिस्थितिमें ही उसका सदुपयोग करके भगवत्प्राप्तिकर सकते हैं। भगवान्‌की यह कितनी दयालुता है कि उन्होंने ऐसा मनुष्य-शरीर देकर सबके लिये अपने-आपको सुलभ कर दिया है—

'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।।'

(मानस उत्तर० दो० ४३। ३)

बिना हेतु कृपा करनेवाले प्रभुने मनुष्य-शरीर दिया है। यह दिया है केवल भगवत्प्राप्तिके लिये; तो क्या भगवान्‌की कृपा निष्फल होगी? भगवान्‌की कृपा कभी निष्फल नहीं होती। हाँ, भगवान्‌ने मनुष्यको स्वतन्त्रता दी है। अब इस स्वतन्त्रताका यह सदुपयोग कर सकता है और दुरुपयोग भी कर सकता है। यह चाहे तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करके अपना कल्याण कर ले अथवा चौरासी लाख योनियोंमें, नरकोंमें भटकता रहे। यह चाहे तो फिर मनुष्य-जन्ममें चला जाय, चाहे स्वर्गादि लोकोंमें चला जाय यह इस मनुष्य की इच्छापर है। भगवान्‌ने इसको स्वतन्त्रता दी है केवल कल्याणके लिये; परंतु मनुष्य इसका दुरुपयोग करके जब नरकोंमें चला जाता है, तब भगवान्‌को बड़ा तरस आता है। इस बातको भगवान्‌ने गीताके सोलहवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें कहा है—

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।।

मुझे न प्राप्त करके अधम गति (नरकोंमें) चले जाते हैं। यहाँ नरकोंकी प्राप्तिकी बात चल रही है! कहनेका तात्पर्य है कि परिस्थिति आदिके सदुपयोगका कितना महत्त्व है। यह बहुत ही दुर्लभ बात है। यदि यह समझमें आ जाय तो प्रत्येक परिस्थितिका सदुपयोग करके मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है।

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये हमारे मनमें लगन लग जाय कि वह हमें कैसे प्राप्त हो? क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? इस प्रकारकी लगनसे परमात्माकी प्राप्ति बहुत शीघ्र होती है। रामायणमें आता है—

'एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की।।'

(मानस, अरण्य० १०।८)

भगवान्‌का यह एक स्वभाव है, उन्हें बान पड़ी हुई है कि जिसका दूसरा कोई सहारा नहीं होता, उसका सहारा भगवान् होते हैं। वह भगवान्‌को बहुत प्यारा लगता है। इसलिये भगवान्‌ने अर्जुनको पूरी गीताजी सुनाकर सार बात कही— **'मामेकं शरणं व्रज'** मेरी एककी ही शरण हो जा; फिर तुझे और कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है। **'माम् एकम्'** का अर्थ अनन्यशरण ही है। यहाँ यह अर्थ नहीं है कि भगवान् पाँच-सात हैं, उनमेंसे मेरी एककी शरण आ जा। भगवान्‌की शरण होकर अर्जुनने पूछा था कि मैं धर्मका निर्णय नहीं कर सकता **'धर्मसम्मूढचेताः'** तो भगवान् कहते हैं कि तुझे धर्मका निर्णय करनेकी आवश्यकता नहीं है। तू सम्पूर्ण धर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मेरी शरण हो जा। ऐसा ही हम सब भगवान्‌की शरण हो जायँ— 'हे नाथ! मैं आपका हूँ और आप मेरे हैं। संसारकी कोई वस्तु, कोई प्राणी मेरा नहीं है और मैं किसीका नहीं हूँ।'

शरण होनेमें एक बात यह आयी कि संसारकी किसी वस्तु अथवा व्यक्तिसे मेरा सम्बन्ध नहीं है। इसमें समझनेकी एक बात है कि संसारके सम्बन्धी माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी-पुत्र आदि आपसे न्याययुक्त और सामर्थ्यके अनुरूप आशा रखते हैं तो उनकी वह आशा आप पूरी कर दें। केवल उनकी सेवा करने के लिये उनसे सम्बन्ध रखें; उनसे लेनेके लिये सम्बन्ध बिल्कुल मत रखें; क्योंकि उनके पास देनेके लिये है ही क्या? संसारकी कोई भी वस्तु स्थायी नहीं रहती और आप स्थायी रहते हैं। वे वस्तुएँ और प्राणी आपके साथ सदा रहेंगे नहीं। इसलिये जितने आपके सम्बन्धी या कुटुम्बी कहलाते हैं, वे चाहे शरीरके नाते हों, चाहे और किसी नाते हों, उनकी सेवा कर दें। क्योंकि आपके पास जो वस्तुएँ हैं, वे उन्हींकी हैं, उनके ही हककी हैं। इसलिये प्रसन्नतापूर्वक उनकी समझकर उन्हें दे दें। उनसे बदलेमें लेनेकी इच्छा रखेंगे तो आपपर उनका ऋण हो जायगा। ऋण होनेसे मुक्ति नहीं होगी, कल्याण नहीं होगा। उनकी सेवा करनेसे कल्याण होगा। संसारके व्यक्तियोंके साथ सम्बन्ध केवल उनकी सेवाके लिये रखेंगे, अपने कुछ लेनेके लिये नहीं रखेंगे तो सब प्रसन्न हो जायँगे।

कुटुम्बी और सम्बन्धी आपसे नाराज तभी होते हैं, जब आप उनसे कुछ लेना चाहते हैं। यदि उनपर अपना अधिकार न मानकर आप उनसे लेना कुछ नहीं चाहेंगे और उनकी केवल सेवा करेंगे तो आपसे कोई रुष्ट नहीं होगा, अपितु आपसमें सबकी एकता हो जायगी और स्नेह बढ़ेगा। संसारमें रहनेकी यह एक बहुत ही बढ़िया कला है और मुक्त होनेकी भी यही कला है। कैसी बढ़िया बात है **'दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे'**—दोनों हाथोंमें लड्डू! अर्थात् ऐसा हो तो भी ठीक और ऐसा न हो तो भी ठीक। इसी तरह यहाँ दोनों हाथोंमें लड्डू एक साथ मिलते हैं— संसार भी राजी हो जायगा और परमात्मा भी प्रसन्न हो जायँगे, जिससे आपका कल्याण भी हो जायगा।

जब आपका उद्देश्य केवल परमात्माकी प्राप्ति करना है, तब उसके लिये परमात्माकी शरण हो जाय और संसारका आश्रय छोड़ दें। संसारकी तो अपनी शक्तिके अनुसार सेवा कर दें। सेवा करनेसे संसार

राजी हो जायगा और प्रभुके चरणोंकी शरण हो जानेसे प्रभु आपपर प्रसन्न हो जायँगे; फिर तो आपका कल्याण स्वतः ही हो जायगा। अपने कल्याणके लिये नया उद्योग नहीं करना पड़ेगा। कितनी सरल और कितनी सीधी बात है।

लेनेकी इच्छासे मनुष्यका संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ता है और देनेकी इच्छासे सम्बन्ध टूटता है। यह बात एकदम नयी-सी लगती है। मुझे भी पहले जब यह बात मिली थी, तब यह नयी-सी लगी थी। इसपर जब विचार किया तो ऐसा लगा कि यह बात एकदम ठीक है। केवल देनेका सम्बन्ध हो तो सम्बन्ध-विच्छेद होता है। आप ऐसा करके देखें। 'सेवा करनेके लिये सम्बन्ध रखें, सेवा लेनेके लिये नहीं'— यह मार्मिक बात है। जैसे, सेवासमितिवाले मेला-महोत्सवमें जाते हैं, वहाँ सबका प्रबन्ध करते हैं, सेवा करते हैं। कोई बीमार हो जाय तो उसे कैम्पमें ले जाते हैं और औषधि-उपचार,सेवा-शुश्रूषा करते हैं, उसके लिये रातों जगते हैं। वह मर जाय तो दाह-संस्कारकर देते हैं, पर रोता कोई नहीं। कारण क्या है? कि उससे लेनेका कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे ही संसारसे सेवा करनेमात्रका सम्बन्ध है और कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार जहाँपर सम्बन्ध दूसरेकी सेवा करनेका होता है, वहाँ रोना नहीं होता।

कुछ-न-कुछ लेनेकी आशासे जहाँ अपनापनका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, वहाँ रोना होता है— **'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। भीतरसे गुणोंका संग है, वह जन्म-मरण देनेवाला है और भीतरसे सेवा करनेका सम्बन्ध है, वह असंगता लानेवाला है। सेवा करनेसे हमारा संग टूटेगा—

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना।।

(मानस, अरण्य० १५। १)

धर्म-पालनका अर्थ यहाँ कर्मयोगसे है अर्थात् कर्तव्य करना और अपने लिये कुछ चाहना नहीं। ऐसी सेवा करनेसे वैराग्य पैदा होगा। जैसे, महाराज स्वायम्भु मनुने प्रजा-पालन करते हुए कहा—

होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।
हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु।।

(मानस, बाल० दो० १४२)

घरमें रहते बूढ़े हो गये, पर वैराग्य नहीं हुआ। ऐसा सोचते ही दम्पत्तिको वैराग्य हो गया। वे राज्य छोड़कर वनमें चले गये; क्योंकि उन्होंने प्रजाका धर्मयुक्त पालन किया था, प्रजाके लिये प्रजाका पालन किया था। उन्होंने अपने राज्य-कालमें सबका हित किया। मनुस्मृति बना दी, जिसके अनुसार चले तो मनुष्यका कल्याण हो जाय। इस तरहसे उन्होंने संसारका हित किया, अपना स्वार्थ नहीं रखा, इससे उन्हें वैराग्य हुआ। यदि वे अपने लिये राज्य करते तो इतना बड़ा राज्य छोड़कर वन नहीं जा सकते थे। तात्पर्य है कि धर्मसहित सबका पालन-पोषण करनेसे वैराग्य पैदा होता है और जहाँ लेनेकी किञ्चिन्मात्र भी इच्छा होती है, वहाँ राग पैदा होता है। यह अज्ञानका चिह्न है, यही इसकी मुख्य पहचान है।

जो कुछ भी लेना चाहता है, उसका संसारसे सम्बन्ध जुड़ता है। लेना वही चाहता है, जो शरीरके साथ 'मैं' और 'मेरे'-पनका सम्बन्ध रखता है और पदार्थोंके साथ 'मेरे'-पनका सम्बन्ध रखता है। जिसे केवल सेवा ही करनी हो, केवल दूसरोंकी सेवा हो जाय, केवल दूसरोंको सुख पहुँचे, आराम पहुँचे, उनका भला हो, उनका कल्याण हो— इस प्रकार तनसे, मनसे, वचनसे, धर्मसे, विद्यासे, बुद्धिसे, योग्यतासे, पदसे, अधिकारसे, सबको सुख ही पहुँचाना हो, मनमें हित-ही-हित करनेका भाव हो, सेवक कहलानेकी इच्छा भी न हो तो वह कभी भी नहीं बँधेगा, मुक्त हो जायगा। जैसे, पानीमें रहकर पानीको अपनी ओर लेंगे तो डूब जायँगे और हाथोंसे, लातोंसे मारते रहेंगे तो तर जायँगे। ऐसे ही संसार-समुद्रमें जो लेना चाहता है, वह डूब जाता है

और जो देना-ही-देना चाहता है, वह कभी नहीं डूबता।

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।।

(मानस, उत्तर० ४६ । ५)

सबकी सेवा करनेवाले भगवान् हैं और संत-महात्मा हैं अर्थात् भगवान् और भगवान्‌के सेवक (भक्त) बिना कारण सेवा करनेवाले हैं तो वे बँधते नहीं हैं। वे बँधे क्यों? उनके तो दर्शनोंसे मुक्ति हो जाती है। उनकी बातोंको सुननेसे कल्याण हो जाता है; क्योंकि उनमें स्वार्थ है ही नहीं। किसीसे कुछ लेना है ही नहीं, प्रत्युपकारकी इच्छा है ही नहीं।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।

(गीता १७ । २१)

प्रत्युपकारकी इच्छाको लेकर जो दान दिया जाता है, उसे भगवान्‌ने 'राजस' कहा है। रजोगुण सम्बन्ध जोड़नेवाला है; क्योंकि **'रजो रागात्मकं विद्धि'**— रजोगुण रागस्वरूप है। जहाँ लेनेकी इच्छा है, वहाँ सम्बन्ध बना रहता है और जहाँ सम्बन्ध बना रहता है, वहाँ सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता।

प्रश्न— एक शङ्का होती है कि भरत मुनिने हरिणके बच्चेका दयापरवश होकर पालन किया, पर उनका उस हिरणके बच्चेमें मोह हो गया, उससे सम्बन्ध जुड़ गया।

समाधान—ठीक है, उन्होंने उस बच्चेको दया करके ही पाला; परंतु प्रारम्भमें उनका उद्देश्य सेवाका होते हुए भी उन्होंने उसमें ममता कर ली और उसके वियोगमें ऐसे व्याकुल हो गये, जैसे किसीका लड़का मर जाय! वे व्याकुल होकर उसे याद करके कहने लगे कि 'यह हरिण मेरे साथ ऐसे खेलता, ऐसे बदन खुजलाता, यों फुदकता, ऐसे मेरे पास आया करता था।' इस मोहके कारण उसके चिन्तनमें उन्हें हरिण बनना पड़ा। इसमें दयाका दोष नहीं है, दोष है ममताका! भरत मुनिको दयासे मोह नहीं हुआ, मोह हुआ भूलसे। वास्तवमें मोह तो पहलेसे ही था, अब दयाने मोहका रूप धारण कर लिया तो हरिण बनना पड़ा। सज्जनो! मोहके कारण बन्धन होता है। दया करके सेवा करनेसे बन्धन नहीं होता। यह पक्की बात है। इसलिये सबकी सेवा करें और केवल सेवाके लिये ही सम्बन्ध रखें।

अस्सी-नब्बे वर्षका कोई आदमी मर जाय तो उसके लिये दुःख नहीं होता है; परंतु पच्चीस वर्षका कोई जवान आदमी मर जाय तो दुःख होता है; क्योंकि उससे कुछ मिलनेकी आशा है। विचारपूर्वक देखा जाय तो होना यह चाहिये कि बड़े-बूढ़ेके मरनेसे अधिक दुःख हो; क्योंकि बड़े-बूढ़े तो विशेष अनुभवी तथा बुद्धिमान् होते हैं, उनका बहुत अध्ययन रहता है। इसलिये उनसे लाभ अधिक लिया जा सकता है, पर क्या बतायें— उनके मरनेका दुःख नहीं होता। क्योंकि उनसे कुछ मिलनेकी आशा नहीं रही। इसलिये ऐसा बूढ़ा आदमी अभी मर जाय तो कोई हानि नहीं होती है।

लोगोंके मुखसे मैंने स्वयं अपने कानोंमे सुना है कि बूढ़ेका मरना तो ब्याहकी तरह है। कारण क्या है कि उससे अब कोई आर्थिक स्वार्थ सिद्ध होनेकी आशा नहीं रही। इसलिये दुःख नहीं होता। ऐसे ही पच्चीस वर्षका एक जवान आदमी पाँच वर्षतक बीमार रहा। वैद्योंने, डाक्टरोंने— सबने जवाब दे दिया। उन्होंने साफ कह दिया कि अब यह जीनेवाला नहीं है तो उसके मरनेसे भी उतना दुःख नहीं होगा, जितना दुःख कमानेवाले पच्चीस वर्षके जवान आदमीके मरनेपर होता है। तात्पर्य है कि कुछ स्वार्थ रहनेसे दुःख होता है और यह आशा ही बाँधनेवाली वस्तु है। आशा नहीं रखी जाय तो मनुष्य बँधता नहीं। उसको कोई बाँध नहीं सकता।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।

(गीता १८ । ४६)

'जिस परमात्मासे यह संसार उत्पन्न हुआ है तथा जिससे संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने

कर्मोंके द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है।'

इस श्लोकका यही भाव है कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्माकी सेवा करे। सेवा करनेसे सिद्धि हो जायगी। भगवान्‌की वास्तविक पूजा तभी होती है, जब मनुष्य वस्तुको अपनी नहीं मानता और पूजासे अपनी स्वार्थ-सिद्धिकी आशा नहीं रखता। जहाँ कुछ-न-कुछ स्वार्थ है, आराम, मान, बड़ाई आदि लेनेकी इच्छा है, वहींपर बन्धन है। मुझे भी व्याख्यान देते वर्षों बीत गये; पर बीमारीकी जड़ कहाँ है, इसका पता जल्दी नहीं लगा। पीछे इस बीमारीकी जड़का पता लगा कि लेनेकी इच्छा ही असली बन्धन है, ऐसी दुर्लभ बात है यह!

बन्धन वहींपर है, जहाँ कुछ-न-कुछ लेना है, कुछ-न-कुछ स्वार्थ है, कुछ-न-कुछ सुख चाहता है, कुछ-न-कुछ भोग भोगना चाहता है। यदि संसारके किसी विषय-पदार्थको देखकर राजी होते हैं तो भोग हो रहा है और भोग है तो वह बाँधेगा ही। अनुकूलता चाहते हैं तो दुःख आयेगा। राजी होना, अनुकूलता चाहना— ये सब भोग हैं। इनसे हरदम सावधान रहें। किसीसे सुख नहीं लेना है, आराम नहीं लेना है, मान नहीं लेना है, बड़ाई नहीं लेनी है। हमें किसीसे कुछ लेना है ही नहीं। कारण कि जहाँ लेना हुआ कि फँसे। यदि केवल सेवा-ही-सेवा करता है, तो उसका पुराना ऋण उतर जायगा; और सम्बन्ध जुड़ेगा नहीं तो वह पूर्ण हो जायगा। इसलिये संसारमें किसीसे सेवा लेनेका, स्वार्थ-सिद्ध करनेका सम्बन्ध रखना नहीं है, केवल उनकी सेवा करनी है। तात्पर्य यह हुआ कि मिले हुए पदार्थोंके द्वारा व्यक्तियोंकी सेवा करना ही सदुपयोग है और महत्ता इस सदुपयोगकी ही है वस्तु एवं परिस्थिति की नहीं।

नारायण! नारायण! नारायण!

धनका सदुपयोग

तुम्हें भगवान्‌ने धन दिया है? तो दान-पुण्य करो। लोकहितके काम करो। धनको परोपकारके लिये व्यय करने लगो। धन तो नित्य पूछता है कि 'मैं जाऊँ?' तुमने उसे जकड़ रक्खा है। वह जानेके लिये व्याकुल हो रहा है। तुम खर्च नहीं करोगे तो वह नजर बचाकर बाहर निकल जायगा। वह किसीके यहाँ स्थिर नहीं रहा, तुम्हारे यहाँ भी रहनेवाला नहीं। तुम न खर्च करोगे तो तुम्हारे वारिस उस धनको शराब, जुआ, सट्टा, दुराचार और ऐशो-आराममें खर्च कर देंगे। इससे तुम्हें क्या फल मिलेगा, यह तुम विचार कर देखो। वैद्य-डाक्टर और बहममें जायगा। चोर-डाकुओं और आगकी भेंट होगा। व्यापार-धंधेमें घाटा लगेगा और चला जायगा। धन तो आता है जानेके लिये ही। इसलिये तुम अपने हाथोंसे उसे अच्छे कामोंमें खर्च करते रहो। यों करनेसे तुम्हारे पाप दूर होंगे। परिवारके लोगोंमें अच्छे संस्कार पड़ेंगे। तुम्हारे यहाँ सज्जनोंका आना-जाना होगा और सबमें अच्छे संस्कार पड़ेंगे। कुछ-न-कुछ निमित्त खड़ा करके धन सत्कर्ममें खर्च करते रहोगे तो तुमको और तुम्हारे परिवारको सुख होगा। धन खर्च करना भगवान्‌के लिये। कीर्तिके लिये खर्च किया हुआ धन कीर्ति दे सकता है और न भी दे सकता है, परन्तु वही धन भगवत्-प्रीत्यर्थ शुद्धभावसे खर्च किया जाय तो उससे भगवान् अवश्य प्रसन्न होते हैं। इसलिये धनका प्रतिदिन किसी-न-किसी रूपसे सदुपयोग करते रहो।



नारदजीका व्यासजीको उपदेश (६)

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराजका प्रवचन)

शुकदेव-जैसे पुरुषको तो भागवत पढ़नेकी जरूरत ही नहीं है । फिर भागवत पढ़ने क्यों गये ? शुकदेवजी भिक्षावृत्तिके लिये बाहर निकलते हैं तो भी गोदोहन कालसे अर्थात् छः मिनटसे अधिक कहीं भी रुकते नहीं। फिर भी सात दिनतक बैठकर उन्होंने यह कथा राजा परीक्षित्को कैसे सुनायी ? हमने सुना है कि राजा परीक्षित् भगवान्का भारी प्रेमी भक्त था। उसे शाप लगा, किसलिये ? यह हमसे कहिये।

सूतजी कहते हैं–

श्रवण करो। द्वापरकी समाप्तिका समय था। बद्रीनारायण जाते हुए रास्तेमें केशवप्रयाग आता है। वहाँ व्यासजीका आश्रम है। व्यासरूपनारायण सरस्वतीके किनारे व्यासाश्रममें विराजते थे। एक समय उनको कलियुगका दर्शन हुआ। पाँच हजार वर्ष बाद संसारमें क्या होगा, इसका उन्हें दर्शन हुआ। बारहवें स्कन्धमें इसका वर्णन किया है। व्यासजीने जैसा देखा, वैसा लिख दिया है। व्यासजीने सोचा कि कलियुगके लोग विलासी होंगे। मनुष्य बुद्धिहीन होंगे। वे वेद-शास्त्रोंका अध्ययन नहीं कर सकेंगे। इसलिये वेदके चार विभाग किये। वेदोंका कभी अध्ययन कर भी लें, परन्तु वेदके तत्त्वका ज्ञान, उसका तात्पर्य उनको नहीं मालूम होगा, इसलिये सत्रह पुराणोंकी रचना की। वेदोंको समझानेके लिये पुराणोंकी रचना की। पुराण वेदोंके भाष्य हैं।

स्त्री, शूद्र, पतित, वेद-श्रवणके अधिकारी नहीं हैं। इन सबका भी कल्याण हो–ऐसा विचारकर उन्होंने महाभारतकी रचना की। महाभारत समाजशास्त्र और पाँचवाँ वेद है। 'भा' का अर्थ होता है ज्ञान, 'रत' अर्थात् रमना। ज्ञान और भक्तिमें रमनेकी कला जिसमें बतायी गयी है, वह ग्रन्थ भारत है। जीव जब ज्ञानमें रमण करने जाता है तब कौरव विघ्न करते हैं। **'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे'**– यह शरीर क्षेत्र है। धर्म और अधर्मका इसमें युद्ध होता है। महाभारत प्रत्येकके मनमें और घरमें चल रहा है। सद् वृत्तियों और असद् वृत्तियोंका युद्ध– यही महाभारत है। जीव धृतराष्ट्र है। नेत्र-विहीन धृतराष्ट्र नहीं है, जिसकी आँखोंमें काम है वह अंधा धृतराष्ट्र है। **'अन्धो हि को यो विषयानुरागी'** अर्थात् अंधा कौन है ?–जो विषयानुरागी है। दुःखरूप कौरव अनेक बार धर्मको मारने जाते हैं। युधिष्ठिर और दुर्योधन रोज लड़ते हैं। दुर्योधन आज भी आता है। प्रभुभजनके लिये सबेरे ठाकुरजी चार बजे जगाते हैं। धर्मराज कहते हैं कि उठो और सत्कर्म करो। परंतु दुर्योधन आकर कहता है कि पिछले प्रहरकी मीठी नींद आ रही है, सबेरे उठनेकी क्या जरूरत है ? तू अभी आराम कर। तेरा क्या बिगड़ता है ? धर्म और अधर्म इसी प्रकार अनादि कालसे लड़ते चले आ रहे हैं। 'दुष्ट विचाररूपी दुर्योधन मनुष्यको उठने नहीं देता। निद्रा और निन्दा-पर जो विजय प्राप्त करते हैं, वे ही भक्ति कर सकते हैं। दुर्योधन अधर्म है। युधिष्ठिर धर्मके स्वरूप हैं। धर्म धर्मराजकी तरह प्रभुके पास ले जाता है और अधर्म-दुर्योधन् मनुष्यको संसारकी ओर ले जाता है और इसका विनाश करता है। धर्म ईश्वरकी शरणमें जाय तो धर्मकी विजय होती है, अधर्मका विनाश होता है।

इतने ग्रन्थोंकी रचना कर लेनेपर भी व्यासजीके मनको शान्ति नहीं मिलती। ज्ञानी पुरुष अपनी अशान्तिका कारण अपनेमें ही खोजते हैं। उद्वेगका कारण अपनेमें ही खोजते हैं। अपने दुःखका कारण बाहर नहीं है। आपके दुःखका कारण आपके अंदर ही है। अज्ञान और अभिमान– ये दुःखके कारण हैं। व्यासजी अशान्तिका कारण अंदर खोजते हैं–'मैंने कोई पाप तो नहीं किया है' ? अज्ञानी पुरुष अशान्तिका कारण बाहर खोजता है। वह बाहरके

कारणोंमें ही अशान्तिका मूल पाता है।

लोग किये गये अपने पुण्योंको बार-बार याद करते हैं, परंतु किये हुए पापको कोई याद नहीं करता। पापका कोई विचार नहीं करता। व्यासजीको चिन्ता हुई कि मेरे हाथसे कोई पाप तो नहीं हुआ है। नहीं, नहीं, मैं निष्पाप हूँ। परन्तु मेरे मनमें कुछ खटकता है कि मेरा कोई-न-कोई काम अधूरा रह गया है। मनुष्यको अपनी भूल जल्दी नहीं मिलती है। इसलिये तो कहा है—

'कृपा भई तब जानिये, जब दीखे अपना दोष।'

जगत्‌के किसी भी जीवका दोष न देखो। अपने मनको सुधारो। जो कोई आपकी भूल बताये तो उसका उपकार भूलना नहीं। व्यासजी ज्ञानी हैं, फिर भी अपनेको निर्दोष नहीं मानते। मनुष्यका सबसे बड़ा दोष यही है कि वह अपनेको निर्दोष मानता है। निर्दोष एक परमात्मा ही हैं। ब्रह्माजीकी सृष्टि गुण-दोषोंसे रहित नहीं है। दैवी सृष्टि और आसुरी सृष्टि अनादि कालसे चली आ रही है। व्यासजी सोचते हैं कि मुझे कोई ऐसा संत मिले, जो मेरी भूल मुझे दिखाये। सत्सङ्ग बिना मनुष्यको अपने दोषोंका भान नहीं होता। सत्सङ्गमें मनुष्यको अपनी भूल सूझती है। व्यासजीके संकल्पसे परमात्माने नारदजीको उनके पास जानेकी प्रेरणा की। कीर्तन करते-करते नारदजी वहाँ पहुँचे। गङ्गाजीको आनन्द हुआ। महापुरुषोंसे मिलनेपर कथागङ्गा प्रकट होंगी। अनेक जीवोंका उद्धार होगा। आज गङ्गाजी शान्त हैं, ताकि इन दो महापुरुषोंके सत्सङ्गमें विघ्न न पड़े। ये महावैष्णव मेरे कृष्णकी कथा करेंगे और उस कथासे अनेक जीवोंका कल्याण होगा। नारदजीने व्यासजीसे कुशलताका समाचार पूछा। फिर कहा, मैं तो आपको अभिनन्दन देने आया था, परंतु आपको चिन्तामें देखकर आश्चर्य हो रहा है। मुझे लगता है कि आप किसी गहरी चिन्तामें हैं। आप आनन्दमें नहीं हैं। व्यासजीने कहा कि आपकी परीक्षा सच्ची है। मेरी कोई भूल हुई है, परंतु मेरी वह भूल मेरी समझमें नहीं आ रही है। कृपा करके आप मुझे मेरी भूल समझा दें— **'स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व।'** मुझमें जो अपूर्णता है, आप इसपर विचार करें; अर्थात् मुझे बतायें। आपका बहुत उपकार होगा। व्यासजीकी विवेकबुद्धि देखकर नारदजीको आनन्द हुआ। नारदजीने कहा— 'महाराज! आप नारायणके अवतार हैं। आपसे क्या भूल हो सकती है? आप ज्ञानी हैं। आपसे कोई भूल नहीं हुई है। फिर भी आग्रह करते हैं तो एक बात कहता हूँ। आपने ब्रह्म-सूत्रके भाष्यमें वेदान्तकी खूब चर्चा की है; आत्मा-अनात्माका बहुत विचार किया है। योग-सूत्रके भाष्यमें योगकी बहुत चर्चा की है। उसमें समाधिके भेदोंका बहुत वर्णन किया है। परंतु धर्म, ज्ञान और योगके आधार श्रीकृष्ण हैं, इन सबके आत्मा श्रीकृष्ण हैं, फिर भी उनकी कथाका आपने प्रेमपूर्वक वर्णन नहीं किया है। आपने भगवान्‌का निर्मल यश पूर्ण रीतिसे, प्रेमसे वर्णन नहीं किया है। मैं मानता हूँ कि जिससे भगवान् प्रसन्न न हों, वह शास्त्र और ज्ञान अपूर्ण ही है। कलियुगके जीवोंके उद्धारके लिये आपका जन्म हुआ है। आपके इस अवतारका कार्य अभीतक आपके हाथसे पूरा नहीं हुआ है। इसलिये आपके मनमें खटका है, चिन्ता है।

ज्ञानी पुरुष भी परमात्माके प्रेममें पागल न हो जाय, तबतक उसको आनन्द नहीं मिलता। प्रभु-मिलनके लिये भी आतुरता नहीं होती तो उसका ज्ञान किस कामका। कलियुगके भोगी जीव आपके ब्रह्मसूत्र आदि नहीं समझ सकेंगे। कलियुगके विलासी मनुष्य आपके गहन सिद्धान्त किस प्रकार समझ सकेंगे। आपने तो योग-ज्ञान आदिकी खूब चर्चा की है, परंतु भगवान्‌की लीलाओं और कथाओंका आपने प्रेमसे विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया है।

प्रेमरहित ज्ञानकी शोभा नहीं है। परमात्मा जिसे अपना मानते हैं, उसको ही अपना असली स्वरूप दिखाते हैं। परमात्माने अपना नाम तो प्रकट रखा है, परंतु अपना स्वरूप छिपा रखा है। जब परमात्माके

अपने प्यारे भक्त उनकी बहुत भक्ति करते हैं तब परमात्मा उनको अपने स्वरूपका दर्शन कराते हैं। सामान्य मनुष्य भी जहाँ प्रेम होता है वहाँ अपना स्वरूप प्रकट करता है। बाहरके मनुष्योंको देखकर कोई दिल नहीं खोलता। जिसके लिये प्रेम होता है उसको तो बिना पूछे सब बता देते हैं। मनुष्य परमात्माके साथ प्रेम नहीं करता, इसलिये वह प्रभुका अनुभव नहीं कर पाता। बड़ा ज्ञानी होनेपर भी जबतक वह परमात्मासे प्रेम नहीं करता, तबतक उसे परमात्माका अनुभव नहीं होता। जो जूतोंसे, कपड़ोंसे पैसोंसे प्रेम करता है, वह ज्ञानी कहलाता है! आजकल लोग पुस्तकें पढ़कर ज्ञानी बन जाते हैं, उनको गुरुकी सेवा नहीं करनी पड़ती। उनको ब्रह्मचर्य पालनेकी जरूरत नहीं होती।

श्रीकृष्णकी लीलाओं और कथाओंका आपने प्रेमसे गान नहीं किया, इसलिये आपको दुःख होता है। यही आपकी अशान्तिका कारण है। ज्ञानकी शोभा प्रेमसे है। जो सबमें भागवत भाव न जगाये, वह ज्ञान किस कामका। श्रीकृष्णके प्रेममें पागल बनेंगे तो शान्ति मिलेगी। आपने प्रेममें पागल होकर कृष्ण-कथाका परिपूर्ण वर्णन नहीं किया है।

जीवसे ईश्वर दूसरा कुछ नहीं माँगता, केवल प्रेम चाहता है। कलियुगके मनुष्यको स्नानके लिये गरम पानी नहीं मिलता, तो गुस्सेसे पागल हो जाता है। ऐसे मनुष्य योग क्या सिद्ध करेंगे! जिसकी भोगमें आसक्ति है, उसकी तन्दुरुस्ती नहीं रहती। द्रव्यमें जिसकी आसक्ति है, उसका मन ठीक नहीं रहता। ऐसे मनुष्यसे योग सिद्ध नहीं होता। चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहते हैं। इसे सिद्ध करना कठिन है। जो बातें तो ब्रह्मज्ञानीका करे, पर प्रेम पैसेसे करे, उसे परमात्मा नहीं मिलते। उसे आनन्द नहीं मिलता। तो आप ऐसी कथा करें कि जिससे सबमें प्रभुके प्रति प्रेम जागे। ऐसी दिव्य कथा करें, ऐसा प्रेमशास्त्र रचें कि जिससे सब कृष्णप्रेममें पागल बनें। कथा सुननेवालोंको कन्हैया प्यारा लगे। संसारकी उपेक्षा करे। ऐसी कथा आप करेंगे तो आपको शान्ति मिलेगी।' नारदजीने व्यासजीसे ये सब बातें बता दीं।

सत्कर्म और सद्‌भाव

सत्कर्म सद्‌भावसे करोगे तभी शान्ति प्राप्त कर सकोगे।

किसीके प्रति बुरा भाव रखकर किया गया सत्कर्म, सत्कर्म न रहकर दुष्कर्म बन जाता है।

सत्कर्मके पीछे अत्यन्त सद्‌भाव होगा तभी सफलता प्राप्त होगी।

ठाकुरजीकी पूजा करनेके बाद सम्पूर्ण विश्वके कल्याणार्थ सद्‌भावपूर्ण प्रार्थना करनेसे परमात्मा बहुत प्रसन्न होंगे। तुम अपने बाल-बच्चोंका शुभ चाहोगे तो भी परमात्मा नाराज नहीं होंगे, किन्तु यदि अपने किसी भी दुश्मनके बच्चेका बुरा चाहोगे तो प्रभु तुम पर खूब नाराज होंगे।

कारण यह है कि तुम्हारे दुश्मनके बालक भी प्रभुके ही बालक हैं। उन्हें भी प्रभुका प्यार मिलता है।

हम प्रभुके सामने यदि प्रभुके ही बालकोंका बुरा चाहेंगे तो वे इसे कैसे सहन कर सकेंगे!

याद रखो, दक्षके यज्ञके समान दूसरेके लिये कुभावसे किया गया सत्कर्म चाहे जितना भी उच्च हो, तो भी कुफल प्रदान करनेवाला ही सिद्ध होता है। सत्कर्ममें सद्‌भाव अत्यावश्यक है।

त्यागमूर्ति कैकेयी

[गतांक सं ११, पृ. सं. २७७ से आगे]

(प्रेषक—श्रीजयदयालजी डालमिया)

दासी मन्थराके व्याकुल अवस्थामें कैकेयीके पास पहुँचनेपर कैकेयी डरती हुई शंकित हृदयसे परिवारकी कुशल पूछती हैं! उसमें पहले श्रीराम की, पीछे राजा दशरथकी और उसके बाद लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्नकी कुशल पूछती हैं—

सभय रानि कह कहसि किन कुसल राम महिपालु।
लखनु भरतु रिपुदमनु सुनि भा कुबरी उर सालु।।

(रा० च० मा० २। १३)

इसके पश्चात् भी मन्थरासे कैकेयीने जो कुछ कहा, उससे उनके हृदयकी बात प्रकट होती है—

सुदिनु सुमंगल दायकु सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई।।
जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई।।
राम तिलकु जौं साँचेउ काली। देउँ माँगु मन भावत आली।।
कौसल्या सम सब महतारी। रामहिं सहज सुभाव पिआरी।।
मो पर करहिं सनेहु बिसेखी। मैं करि प्रीति परीछा देखी।।
जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू। होहुँ राम सिय पूत पतोहू।।

(रा० च० मा० २। १४। २-७)

क्या यह विश्वास करने योग्य बात है कि ऐसी कैकेयी अपने श्रीरामको स्वेच्छासे वनवास भेजकर कष्ट देगी?

जब कैकेयीने राजा दशरथसे दो वरदान मांगे, श्रीरामचरितमानसमें उनकी शब्दावली ध्यान देने योग्य है।

पहला वरदान—

'देहु एक बर भरतहि टीका।।'

(रा० च० मा० २। २८। १)

दूसरा वरदान—

मागउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी।।
तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनवासी।।

(रा० च० मा० २। २८। २-३)

दूसरे वरको मनोरथ कहा, पहिले वरको मनोरथ नहीं कहा। कर जोड़कर दूसरा वर मांग रही हैं, क्योंकि यही तो अपने प्यारे पुत्रकी कामना-पूर्तिका है। भरतका टीका मनोरथ नहीं, साधारण है।

कुछ लोग कहते हैं कि कैकेयीने यह समझा कि चौदह वर्षोंमें भरत जम जायगा, उसके बाद राम लौटकर आ भी जायँ तो उसका क्या बिगाड़ सकते हैं। यह बात ध्यान देनेकी है कि भरतके पौरुष और शौर्यका कहीं प्रकाश नहीं हुआ है, जबकि श्रीरामके पौरुष और शौर्य विश्वामित्रजीके यहाँ और परशुरामजीके समक्ष प्रकट हो चुके थे।

महारानी कैकेयी महाराज दशरथके साथ रणमें जाया करती थीं, महाराज दशरथ कभी संकटमें पड़ जाते तो कैकेयी उनका संकट-निवारण करनेमें अपनी सामर्थ्य दिखाया करती थीं। वे स्त्री-जाति होनेसे शौर्यको समझ न सकती हों, ऐसी बात नहीं। अतः यह मानना कि चौदह वर्षके बाद श्रीराम लौटकर भरतकी राजगद्दी छीनना भी चाहें तो ऐसा नहीं कर सकेंगे, भ्रम है। यदि भरतको राजगद्दीपर ही बनाये रखनेका कैकेयीका उद्देश्य होता तो श्रीरामके लिये आजीवन-वनवास (देश-निकाला) माँगतीं। इससे यह स्पष्ट है कि कैकेयीका उद्देश्य श्रीरामकी इच्छाके अनुसार उनको केवल चौदह वर्षके लिये ही वन भेजनेका था। इसीको प्रधानता देकर उसके लिये 'कर जोर विनती' कर रही हैं और उसको अपना 'मनोरथ' बता रही हैं।

राजा दशरथ एवं अन्य हितैषी पुरुष एवं महिलाओंके समझानेपर भी कि भरतको टीका हो, किंतु श्रीरामको वनवास क्यों, वे गुरुगृहमें रह जायँ, कैकेयी इसे स्वीकार नहीं करतीं, क्योंकि इससे

भगवान् रामका मन्तव्य पूरा नहीं होता। और विशेषता यह है कि अपने ऊपर कलंक लेकर भी किसी भी हालतमें कैकेयीने किसीके सामने श्रीरामके मन्तव्यका गुप्त भेद नहीं खोला।

श्रीरामचरितमानसमें प्रकारान्तरसे इस बातका और भी संकेत मिलता है कि प्रभुकी इच्छासे ही कैकेयी अम्माको यह नाटक रचना पड़ा। जब भगवान् राम कैकेयीके कोपभवनमें पहुँचते हैं और वहाँकी परिस्थिति देखते हैं, तब—

'मन मुसुकाहिं भानुकुल भानू।'

(रा० च० मा० २ । ४० । ५)

भानुकुलके भानु मन-ही-मन मुस्काने लगे। भला विचार कीजिये कि पिता तो अर्धमूर्च्छित अवस्थामें पड़े हैं, माता कैकेयी कोपभवनके वेषमें हैं— क्या यह स्थिति मर्यादापुरुषोत्तमके लिये मन-ही-मन मुस्कानेकी है? मुस्कानेका स्पष्ट भाव यही है कि माँने विषकी घूँट पीकर मेरा मनचाहा कार्य कर दिया। इसके बाद नाटककी पात्रता निभानेको श्रीराम कहते हैं—

थोरिहिं बात पितहि दुःख भारी। होति प्रतीति न मोहि महतारी।
राउ धीर गुन उदधि अगाधू। भा मोहि तें कछु बड़ अपराधू॥

(रा० च० मा० २ । ४१ । ६-७)

तब कैकेयी उत्तर देती हैं—

'तुम अपराध जोगु नहिं ताता। जननी जनक बंधु सुखदाता॥'

(रा० च० मा० २ । ४२ । ३)

इसमें 'तात' सम्बोधन है, जो अपने बहुत प्रिय व्यक्तिके लिये किया जाता है। यदि श्रीरामकी स्वयंकी इच्छा चौदह वर्षके लिये वनमें जानेकी न होती तो वे कह सकते थे कि जब मैं अपराधके योग्य ही नहीं, तब मुझे वनवास क्यों? किंतु लीलामंचकी पात्रता निभानेके लिये उन्होंने ऐसा नहीं कहा।

(७)

भगवान् श्रीराम जब माता कौसल्याके पास विदा होने के लिये जाते हैं, तब उनसे कहते हैं—

'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥'

(रा० च० मा० २ । ५२ । ६)

माता कौसल्या जब श्रीरामसे पूछती हैं—

तात पितहि तुम्ह प्रान पिआरे। देखि मुदित नित चरित तुम्हारे॥
राजु देन कहुँ सुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहि अपराधा॥
तात सुनावहु मोहि निदानू। को दिनकर कुल भयउ कृसानू॥

(रा० च० मा० २ । ५३ । ६-८)

तब श्रीराम स्वयं उत्तर नहीं देते हैं। देते भी कैसे? कैकेयी माँने तो वनवास दिलवाया नहीं। योजना तो उनकी स्वयंकी थी, जिसका उद्घाटन कर नहीं सकते और कैकेयीपर झूठा आरोप लगा नहीं सकते। तब—

निरखि राम रुख सचिव सुत कारनु कहेउ बुझाइ।
सुनि प्रसंगु रहि मूक जिमि दसा बरनि नहिं जाइ॥

(रा० च० मा० २ । ५४)

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम न तो मिथ्या भाषण करते हैं और न दुतरफा बात कहते हैं—

'रामो द्विर्नाभिभाषते' (वा० रा० २ । १८ । ३०)

वे कहते हैं कि वनमें मेरा बड़ा कार्य है। वह कार्य क्या है? रावण आदि राक्षसोंका संहार-कार्य तो अयोध्यामें राजगद्दीपर बैठकर भी कर सकते थे। चक्रवर्ती राजाकी प्रजाको कहीं भी कोई राक्षस सतावे तो उसका निग्रह करनेके लिये वे स्वयं जा सकते हैं। किंतु ग्रामीणोंपर, भिल्ल-कोल-किरातोंपर, ऋषि-मुनियोंपर, शबरीपर, वानर-भालुओंपर कृपा करनेके लिये ग्राम-ग्राम होकर वन-अरण्यमें पैदल यात्रा चक्रवर्ती राजाके लिये व्यावहारिक नहीं हो सकती। यह बड़ा काज था।

भरतजी ननिहालसे लौटकर पिताके क्रिया-कर्म कर चुकते हैं, तब महर्षि वसिष्ठ स्वयं उन्हें समझाते हैं—

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥
अस बिचारि केहि देइअ दोसू। ब्यरथ काहि पर कीजिअ रोसू॥

(रा० च० मा० २ । १७१ व १७२ । १)

(८)

भरतजी चित्रकूट जाते समय जब भरद्वाज-आश्रममें पहुँचते हैं, तब महर्षि भरद्वाज उनसे कहते हैं—

तुम्ह गलानि जियँ जनि करहु समुझि मातु करतूति।
तात कैकइहि दोसु नहिं गई गिरा मति धूति।।

(रा० च० मा० २ । २०६)

श्रीरामको लौटानेके लिये भरत चित्रकूट जा रहे हैं, उस समय सुरेश घबड़ा कर देवगुरु बृहस्पतिसे कह रहे हैं कि बनी-बनायी बात बिगड़ न जाय, इसके लिये कोई उपाय कीजिये। तब गुरुदेव उत्तर देते हैं—

मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया।।
तब किछु कीन्ह राम रुख जानी। अब कुचालि करि होइहि हानी।।

(रा० च० मा० २ । २१७ । २–३)

इससे भी बहुत स्पष्ट है कि भगवान् श्रीरामकी स्वयंकी ही यह योजना थी, जिसकी पूर्तिके लिये उन्होंने अपनी बहुत ही विश्वास-भाजन एवं भक्तिमती 'कैकेयी अम्बा' को चुना, जिन कैकेयी अम्बाने इतने लाञ्छन सहकर भी कभी भेद नहीं खोला। अपने स्नेहभाजनके लिये इससे बढ़कर कोई त्याग हो सकता है क्या?

चित्रकूटमें भी भगवान् श्रीराम भरतको समझा रहे हैं—

'दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई।।'

(रा० च० मा० २ । २६२ । ८)

(९)

चित्रकूटसे विदा होते समय भगवान् कह रहे हैं—

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति।।
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन।
इत्युक्त्वाश्रुपरीताक्षो भ्रातरं विससर्ज ह।।

(वा० रा० २ । ११२ । २७-२८)

'रघुनन्दन भरत! मैं तुमको अपनी और सीताकी शपथ दिलाकर कहता हूँ कि तुम माता कैकेयीकी रक्षा करना, उनके प्रति कभी क्रोध न करना— इतना कहते-कहते उन-(श्रीराम-) की आँखोंमें आँसू उमड़ आये, उन्होंने व्यथित हृदयसे भाईको विदा किया।'

भगवान् श्रीराम समझ रहे हैं कि अम्बा कैकेयी-द्वारा बहुत दुष्कर्म कार्य करवाया गया है, जिसे स्पष्ट रूपसे प्रकट भी नहीं किया जा सकता और भीतर-ही-भीतर उसकी टीसका अनुभव हो रहा है।

(१०)

श्रीरामचरितमानस और अध्यात्म-रामायणके अनुसार भी अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीरामकी इच्छासे देवगण सरस्वतीजीको भेजकर मन्थराके माध्यमसे कैकेयी द्वारा श्रीरामको वन भेजनेको प्रेरित करते हैं।

भारतीय नारीके लिये परोपकारके निमित्त वैधव्यका कलंक स्वीकार करनेसे बढ़कर और क्या त्याग हो सकता है? (समाप्त)

दुःखमें ही सुख है

जिस दुःखमें प्रभुका निरन्तर स्मरण बना रहे वह दुःख सदा सुख है। जिस सुखमें प्रभुका स्मरण छूट जाय वह सुख सुख नहीं, बल्कि बहुत बड़ा दुःख है।

दुःख तो महान् सद्गुरु है। यही परिपक्वताकी सच्ची दवा है। सन्तोंने भी जीवनमें दुःखसे प्रेरित होकर ही संसार का त्याग किया है।

संसार स्वार्थी है और ईश्वर ही सच्चा साथी है, इस सत्यकी प्रतीति दुःखमें ही होती है।



ब्रह्मानुभूति

[कहानी]

(लेखिका—कु० भारती पुजारी)

अरण्यकमें बनी अपनी पर्णकुटीमें ऋषिराज अपने अनेक शिष्योंको कोसलाधीश भक्तवत्सल दीनदयालु जानकीनाथ श्रीरामजीकी पतितपावनी कथा सुना रहे थे। समस्त भक्तिमार्गी शिष्य एकाग्रचित्त होकर कथारूपी अमृतका पानकर रहे थे और सभीके मनमें एक ही कामना थी कि हम इस अधम देहसे प्रभुको कब पायेंगे? ऋषिराज तो जैसे समाधिस्थ थे। कोई सुन रहा है या नहीं, उन्हें इसका भान ही नहीं था। कथामृत पिलाते हुए उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु निरन्तर प्रवाहित हो रहे थे।

आश्रमकी नीरवताको निकट आ रही पदध्वनियोंने भंगकर दिया। नये प्रविष्ट शिष्योंका ध्यान आश्रमके द्वारपर स्थिर हो गया। उनका मुख गुरुकी ओर था, किंतु देखने और सुननेकी समस्त शक्ति द्वारपर केन्द्रित थी। वे देखना चाहते थे कि वस्तीसे कोसों दूर स्थित इस आश्रमपर आज कौन आ रहा है। गुरु तो जैसे प्रभुके चरित्रोंको अपनी आँखोंसे देख रहे थे, उन्हें शिष्योंका ध्यान भंग होनेकी खबर तक न हुई। कुछ ही क्षणोंमें एक वृद्ध पुरुष और एक वृद्ध महिलाने आश्रमके द्वारपर पुकार की। देखनेमें दोनों ही भद्र प्रतीत होते थे। एक शिष्यने खड़े होकर अनुशासनपूर्वक गुरुसे कहा— 'गुरुदेव! आश्रमपर अतिथि पधारे हैं। क्या आज्ञा है?' एक सुखद स्वप्नकी भाँति गुरुदेवके सामने अनेक क्रीड़ाएँ कर रहे प्रभु तत्काल अन्तर्हित हो गये, गुरुदेवकी समाधि भंग हो गयी और वे इस लोकमें लौट आये। नेत्रोंके बंद होनेपर भी उन्हें आश्रमकी स्थितिका भान हो गया था। उन्होंने कहा— 'जाओ बेटा! ब्राह्मण गोपीनाथ एवं उनकी पत्नीको द्वारपरसे चरण पखारकर सादर ले आओ।' शिष्यने तुरंत जाकर वृद्ध दम्पतिके चरण पखारे और सादर कुशासनपर विराजमान होनेकी प्रार्थना की। गुरुदेवकी आखें अभी भी बन्द थीं।

वे बोले— 'कहिये ब्राह्मण देवता! क्या आज्ञा है?' ब्राह्मण गद्‌गद हो गया। बोला—स्वामी! आप तो अन्तर्यामी हैं, आपने आँखें बंद किये हुए ही न केवल हमें देख लिया, अपितु हमारा नाम तक जान लिया है। आप हमारे यहाँ आनेका प्रयोजन भी जानते हैं। कृपा कीजिये, स्वामी!' जब गुरुजीने शिष्यसे कहा था कि ब्राह्मण गोपीनाथ एवं उनकी पत्नीको सादर लिवा लाओ, तबसे शिष्योंके मनमें भी यह प्रश्न बराबर उठ रहा था कि गुरुदेवने आँखें खोले बिना, यहाँतक कि ब्राह्मण देवताकी वाणी सुने बिना भी उन्हें कैसे जान लिया? अतः गोपीनाथ द्वारा यह बात कहनेपर शिष्योंको अत्यन्त ही हर्ष हुआ। गुरुदेव धीरेसे मुस्कराये और बोले—'ब्राह्मणदेव! इतना जान लेना तो इसलिये आवश्यक था कि आपको अधिक देर तक खड़ा न रहना पड़े। शिष्यने मात्र इतना ही कहा था कि अतिथि आये हैं। आपकी शिखा, कण्ठी एवं यज्ञोपवीत आदि देखकर भी इस शठ शिष्यने यह नहीं कहा कि ब्राह्मणदेव आये हैं, अतः यदि मैं इससे प्रश्न करता कि कौन अतिथि है? कितने अतिथि हैं? तबतक आपको खड़ा ही रहना पड़ता, जबकि आप लम्बी पदयात्रा करके आये हैं। फिर हमारे प्रभुसे तो भक्तोंका कष्ट क्षणमात्र भी नहीं देखा जाता, परंतु अपना प्रयोजन तो आप स्वयं ही कहें, यही सांसारिक मर्यादा है। शिष्यगण भी सुन-समझ सकेंगे यह सुनकर वृद्ध दम्पति चरणस्पर्शको आतुर हो उठे। उनके मुखसे टुकड़ों-टुकड़ोंमें यही निकल सका— 'प्रभो! आपके विषयमें जैसा सुना था, उससे अधिक ही पाया। प्रतीत होता है, जैसे हम वैकुण्ठलोकमें साक्षात् प्रभुके ही सामीप्यमें पहुँच गये हैं। हमारी

पार्थिव देह अत्यन्त ही निर्मल हो गयी है। मार्गकी थकानका तो आभास तक नहीं ।'

गुरुदेव बोले—'हाँ वत्स! संसारकी समस्त दुविधाएँ 'आभास' मात्र ही तो हैं, मात्र हमारी अनुभूतियाँ ही तो हैं। हम जिस वस्तु, कर्म या स्थितिके प्रति अपने चंचल मनकी भौतिक उड़ानोंसे ताल-मेल नहीं बिठा पाते, वही हमें कष्टमय और दुविधापूर्ण प्रतीत होती है। इन कष्टों और दुविधाओं पर विजय पानेका साधन भी हमारी अनुभूतियाँ ही हैं—यदि हम अपनी अनुभूतियोंको प्रभुकी प्रेममयी क्रीड़ाओंके रसमें भिगो लें।' मौन होकर गुरुदेव जैसे पुनः समाधिस्थ हो गये थे और साक्षात् श्रीप्रभुके प्रेममय दर्शन कर रहे थे। गोपीनाथने कहा—'प्रभो! मेरा एकमात्र बेटा है चन्दन। अब उसकी आयु अठारह वर्षकी हो गयी है; किंतु वह जन्मसे ही नेत्रहीन है। वह अनन्त संसारका सदस्य होनेपर भी संसारको देख नहीं सकता। उसे हम न जाने कहाँ-कहाँ ले जा चुके हैं, परंतु उसे दृष्टि नहीं मिल सकी। अब हम आपकी शरणमें हैं। कृपा कीजिये प्रभो!' गुरुदेव मुस्करा पड़े— 'वत्स! मैंने तो तुम्हें परम विद्वान् समझा था, पर तुम्हारी यह कैसी इच्छा! क्या तुम सचमुच यह चाहते हो कि वह इस दुःखपूर्ण संसारके नश्वर, वैविध्यपूर्ण एवं आभासमात्र पदार्थोंके दर्शन करे?' 'हाँ, गुरुदेव! हम चाहते हैं कि वह इस संसारको जाने, फिर इसके सारको जाने। साथ ही हमें भी पूर्ण पितृसुख उपलब्ध कराये। गुरुदेव! उस नेत्रहीनको कौन अपनी कन्या देगा?' वृद्धा बोली—'गुरुदेव! मैं उसके जन्मसे आजतक तरस रही हूँ कि वह विभिन्न वस्तुओंको देखे और उन्हें प्राप्त करनेकी हठ करे। कभी कहे 'माँ! हमें वह चाँदीके चकले-जैसा चंदा मामा पकड़ दो और कभी कहे कि माँ ! हमें सिंहकी सवारी करा दो।' पर उस मासूमने इस विचित्र संसारकी विचित्र वस्तुएँ देखी ही नहीं हैं। वह ऐसी विचित्र बालहठ कैसे करता? जो उसे खिला देती हूँ, मौन होकर खा लेता है, जो पहना देती हूँ मौन होकर पहन लेता है। वह अनेक रंगों और वस्तुओंके नाम तो जानता है, परंतु उनका स्वरूप नहीं जान सका है।'

गुरुदेव बोले— 'बस करो, तुम्हारी इन अज्ञानतापूर्ण बातोंमें मुझे रस नहीं आ रहा है।' ऐसा लगा जैसे गुरुदेवकी आवाज किसी दूसरे लोकसे आ रही हो, उनका शरीर सामने हो और गुरुदेव कहीं दूरसे बोल रहे हों। परंतु शिष्योंको गुरुदेवका इस प्रकार निष्ठुर उत्तर, माँके मातृत्वकी भावनाओंको ठेस पहुँचानेवाला उत्तर जँचा नहीं। फिर भी वे प्रतीक्षा कर रहे थे कि गुरुदेव अब आगे क्या कहते हैं? गुरुदेवने अत्यन्त ही गम्भीर वाणीमें कहा— 'तुम जिसे मात्र अपना पुत्र समझती हो, वह तुम्हारा पुत्र मात्र ही तो नहीं है। वह भी उसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्मका अंश है, जिस प्रकार तुम या मैं। हम सभीका संसारमें आनेका प्रयोजन एक ही है। कोई उस प्रयोजनकी सिद्धिके लिये अधिक सक्रिय है, कोई सक्रिय होना चाहता है, परंतु सांसारिक प्रलोभन उसका पीछा नहीं छोड़ते और कोई पूर्णतः निष्क्रिय है। साथ ही उस प्रयोजनकी सिद्धिके लिये अपने-अपने कर्मानुसार किसीको अधिक साधन उपलब्ध हैं, किसीको कम और किसीको बिल्कुल नहीं।' 'मैं समझी नहीं महाराज!' ब्राह्मणीका मुख विस्मयसे पीला पड़ गया। गुरुदेवने कहा—'गोपीनाथ! सत्य कहो, क्या तुम आँखोंसे ही देखते हो?' गुरुदेवकी अप्रासंगिक बातोंमें गोपीनाथको आश्चर्य हो रहा था, परंतु उसे यह भान हो चुका था कि उसके सामने एक अद्भुत एवं दैवी शक्तिसम्पन्न, सदैव ईश्वरके सांनिध्यमें रहनेवाला असांसारिक पुरुष बैठा है। अतः वह धैर्य धारण कर बोला—'हाँ गुरुदेव! मैं ही क्या प्रत्येक व्यक्ति आँखोंसे ही देखता है'।

'तुम भूलकर रहे हो गोपीनाथ! तुम्हारे आनेसे पूर्व भी मेरी आँखें बंद थीं और अबतक बंद हैं; परंतु मैंने तुम्हें जान लिया; जबकि अबसे पहले मैंने तुम्हें कभी नहीं देखा था। मैं तुम्हारे आभूषण, तुम्हारा वर्ण

एवं तुम्हारे वस्त्रोंका वर्ण भी बता सकता हूँ। आँखोंसे व्यक्ति वही देख सकता है, जो उसके सामने हो और आँखें बंद करके व्यक्ति सारे ब्रह्माण्डको देख सकता है।' 'आप दिव्य हैं गुरुदेव! प्रत्येक व्यक्ति तो आँखें बंद करके सामनेकी वस्तु भी नहीं देख सकता, सारे ब्रह्माण्डकी तो बात ही क्या? ब्रह्माण्डको तो हम आँखें खोलकर भी नहीं देख पाते।' 'हाँ गोपीनाथ! आँखें खोलकर हम सारा ब्रह्माण्ड कभी नहीं देख सकते, पर आँखें बंद करके देख सकते हैं। तुमने ऐसे अनेक व्यक्ति देखे होंगे, जो मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं, किंतु उनकी आँखें खुली रह जानेपर भी उन्हें उन आँखोंसे कुछ दिखायी नहीं देता। वस्तुतः देखनेकी शक्ति आँखोंमें नहीं है। वरन् हमारी वह आत्मिक शक्ति है, जिसके कारण हम जीवित हैं, चेतन हैं। जो हमारी जीवनी-शक्ति है, वही चित्-शक्ति बहुधा आँखोंके माध्यमसे देखती है। परंतु हमने उसे शारीरिक सीमाओंसे सीमितकर रखा है, इसलिये वह उतना ही देख सकती है, जितना हमारी आँखोंके सामने या शारीरिक क्षमताओंके अन्तर्गत आता है। परंतु यदि हम इन दैहिक साधनोंका और शारीरिक सीमाओंका अतिक्रमण कर सकें तो उस चित्-शक्तिकी अनन्त क्षमताएँ दिखायी देंगी। फिर वह समस्त ब्रह्माण्डको देख सकेगी। अभी हम देखनेके लिये अपनी समस्त शक्तिका केन्द्रीकरण आँखोंकी ओर रखते हैं, परंतु जब हम समझते हैं कि हम आँखोंसे नहीं देख सकते, तब हम अपनी चित्-शक्तिके केन्द्रीकरणका क्रमशः विस्तार करते हैं। तब हमारे लिये किसी प्रकारकी कोई सीमा नहीं रहती है। तब हम एक ही पलमें सुदूर स्थित वस्तुओं और स्थानको भी देख सकते हैं।'

गुरुदेव मौन हुए तो लगा जैसे वे स्वयं भी सुदूर स्थित क्षीरसागरमें शेषशायी नारायण और चरण चापती लक्ष्मीको साक्षात् देख रहे हों। गुरुदेवके दोनों हाथ प्रणामकी मुद्रामें थे। गोपीनाथने कहा— 'गुरुदेव! यह तो माना कि देखनेकी शक्ति आँखोंमें नहीं है, वे तो मात्र हमारी जीवनीशक्तिके ही कारण देख पाती हैं। परंतु मेरे पुत्रके पास जीवनीशक्ति तो है, वह जीवित है, फिर भी वह देख नहीं पाता। जब द्रष्टा कोई और ही शक्ति है, तब वह शक्ति होनेपर भी उसे कुछ दिखायी क्यों नहीं देता?' अब गुरुदेवने आँखें खोल ली थीं। बड़ी शान्त मुद्रामें उन्होंने गोपीनाथको समझाया— 'जिस प्रकार एक यन्त्र होता है, उसमें चलनेकी शक्ति तो होती है, किंतु बिना चालकके वह चल नहीं पाता और कभी-कभी यन्त्र में ऐसी खराबी आ जाती है कि चालक चाहते हुए भी उसे नहीं चला पाता। जब चालक किसी भी तरह उस यन्त्रको चला पानेमें सफल नहीं होता, तब वह अपने समयका उपयोग किसी अन्य सत्कार्यको करनेमें करता है— उस सत्यकार्यमें जिससे उसका जीवनयापन भी सुचारु रूपसे चलता रहे। ठीक इसी तरह हमारी आँखें भी एक यन्त्र हैं। उनमें देखनेकी क्षमता निहित है, परंतु वे तभी तक देखती रह सकती हैं, जबतक कि द्रष्टा, अर्थात् हमारी जीवनीशक्ति चालकके रूपमें विद्यमान रहती है। कभी-कभी आँखरूपी यन्त्रमें भी ऐसी खराबी आ जाती है कि चालकके (जीवनीशक्तिके) होते हुए भी वे देख नहीं सकतीं। यही स्थिति तुम्हारे पुत्रकी है। तब यन्त्र-चालककी भाँति ही कुछ समय तक तुमने भी उस खराबीको दूर करनेका प्रयास किया, किंतु असफल रहे। अब उसे चाहिये कि वह अपने समयका उपयोग किसी ऐसे सत्कार्यमें करे, जिससे उसका जीवन सुचारु रूपसे चलता रहे।' अब ब्राह्मणी अधीर होकर बोली— 'तो क्या मेरा बेटा कभी नहीं देख सकेगा? क्या हम आपके दरबारसे भी निराश लौट जायँगी? हा प्रभो! यह क्या लिखा था मेरे भाग्यमें। एक ही बेटा और वह भी अन्धा!' इतना कहकर ब्राह्मणी विलाप करने लगी।

गुरुदेवने कहा— 'मैंने यह तो नहीं कहा कि वह कभी नहीं देख सकेगा। हाँ, जो पदार्थ हम देखते हैं और जो पदार्थ वह देखेगा, उनमें भिन्नता अवश्य हो

सकती है।' गोपीनाथने आश्चर्यसे पूछा— 'क्या कहा महाराज! वह किन्हीं-किन्हीं वस्तुओंको देख सकता है?' 'हाँ गोपीनाथ! तुमने कुछ देर पहले कहा था कि चाहते हो कि तुम्हारा बेटा संसारकी वस्तुओंको जाने और फिर उनके सारको भी जाने। गोपीनाथ! मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि तुम्हारा बेटा संसारकी वस्तुओंको भले ही न जान सके, परंतु संसारके सारको निश्चित रूपसे तुम आँखवालोंकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह जान सकता है।' 'वह कैसे महाराज!' ब्राह्मणीकी आँखोंमें प्रसन्नताकी चमक आ गयी थी। 'जब तुम उसे मेरे पास ले आओगे।' गुरुदेवने संक्षिप्त-सा उत्तर देकर आँखें मूँद ली थीं और वे पुनः समाधिस्थ हो गये थे। गोपीनाथने समझ लिया कि गुरुदेवकी ओरसे वार्ता समाप्त कर दी गयी है। अतः उसने ब्राह्मणीको चलनेका संकेत किया। तभी एक शिष्य कुछ फल ले आया। ब्राह्मणको सादर समर्पितकर बोला— 'आश्रमका प्रसाद है, लेते जाइये।' ब्राह्मणने कृतज्ञतासे प्रसाद ग्रहण किया और दोनों प्राणी आश्रमसे बाहर निकल गये।

घर जाकर एक पल भी गँवाये बिना उन्होंने पुत्रको शुभ समाचार सुनाते हुए कहा— 'पुत्र! ऋषिराज कहते हैं कि तुम किन्हीं-किन्हीं वस्तुओंको देख सकते हो। बोलो, कब चलोगे उनके पास?' 'पिताजी जब आप कहेंगे, तभी चलूँगा।' चन्दनने कहा- 'ऋषिराज निश्चित ही एक चामत्कारिक दिव्य पुरुष हैं। पिताजी! आप जबसे उनके आश्रमपर जानेका निश्चय करके घरसे निकले हैं, तभीसे मुझे यहाँ एक दिव्य प्रकाश एवं अद्भुत शान्तिका 'आभास' हो रहा है।' 'आभास' शब्दको सुनते ही गोपीनाथको एक झटका-सा लगा। ऋषिराजने समस्त दुःखद और सुखद स्थितियोंको आभास ही तो कहा था। अब चन्दनको दुःखद स्थितियोंका आभास मिटकर सुखद स्थितियोंका आभास होने लगा है। संसारकी समस्त वस्तुएँ आभास ही तो हैं। आभासके अनुरूप यथार्थ वस्तुका होना आवश्यक नहीं होता। यदि चन्दनको ऐसा आभास ही होने लगे कि इसे सब कुछ दिखायी देता है तो इसके मनका समस्त संताप दूर हो जायगा। यह सोचकर गोपीनाथका मुख प्रसन्नतासे दमक उठा। उन्होंने बड़ी प्रफुल्ल आवाजमें कहा— 'चन्दनकी माँ! हम चन्दनको लेकर कल सूर्योदयसे पूर्व ही आश्रमके लिये प्रस्थान करेंगे।'

आश्रमपर पहुँचते ही चन्दन चहक उठा— 'पिताजी! हम कहाँ आ गये हैं? क्या यह बैकुण्ठलोक है? यहाँ कैसा अद्भुत प्रकाश है, कैसी दिव्य शान्ति है'? 'हाँ बेटा! यह देवस्वरूप ऋषिराजका बैकुण्ठ-आश्रम है।' इसी समय ऋषिराज आश्रमसे बाहर आये और बोले— 'बेटा चन्दन! मैं जानता था कि तुम्हें प्रकाश अवश्य दिखायी देगा। ऐसा प्रकाश नेत्रोंसे संयुक्त, संसारके विभिन्न वस्तुओंके प्रलोभनोंसे संयुक्त, मोह और अहंकारसे परिपूर्ण मनुष्योंको दिखायी नहीं दे सकता।' गोपीनाथने कहा—'गुरुदेव! यह किन-किन वस्तुओंको देख सकता है? शीघ्र कृपा कीजिये।' गुरुदेव बोले- 'वत्स! इतने अधीर न हो, आओ, आश्रममें बैठकर वार्ता होगी।' आश्रममें आये तो चार कुशासन तैयार थे। गुरुदेव, गोपीनाथ, उनकी पत्नी और चन्दन एक-एक आसनपर बैठ गये। ऋषिराजने चन्दनसे कहा— 'बेटा! तुम्हारे पिताजी चाहते हैं कि तुम संसारको जानो और फिर इसके सारको भी जानो। सच कहो, क्या तुम्हें कुछ भी दिखायी नहीं देता?' 'गुरुदेव मुझे दिव्य प्रकाश दिखायी दे रहा है।'— चन्दनने कहा। गुरुदेवने कहा— 'बस प्रकाश? वह प्रकाश कैसा है चन्दन! पीत है या श्वेत?' चन्दन बोला— 'गुरुदेव! मैंने पीत और श्वेत नाम तो अवश्य सुने हैं, किंतु मैं नहीं जानता कि वे कैसे होते हैं? मुझे दिखायी दे रहे प्रकाशको पीत कहेंगे या श्वेत, यह भी मैं नहीं जानता।' 'ठीक कहा वत्स!' गुरुदेवके चेहरेपर सन्तोष था। उन्होंने कहा— 'वह प्रकाश सर्पाकार है अथवा अण्डाकार, वर्तुलाकार है या वृत्ताकार, त्रिकोण है या षट्कोण?' 'गुरुदेव इन नामोंको भी मैं

सुन चुका हूँ। विभिन्न आकारोंकी वस्तुओंको अपने हाथसे स्पर्श कर मैंने उनके आकारोंका अनुमान भी किया है, फिर भी मैं निश्चित रूपसे यह नहीं कह सकता कि कौन-सी वस्तु किस आकारकी होती है। इसलिये मैं यह भी नहीं बता सकता कि मुझे दीखनेवाला प्रकाश किस आकारका है? वैसे मुझे दिखायी दे रहे प्रकाशका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। सम्भवतः उसे किसी भी आकारका नाम नहीं दिया जा सकता।'— चन्दनने उत्तर दिया।

गुरुदेवने तुरन्त कहा— 'उस प्रकाशके आकार-को कोई नाम नहीं दिया जा सकता, अर्थात् वह निराकार है, फिर भी आकार-रहित नहीं है। तमने विभिन्न आकारोंको हाथसे छूकर अनुभव किया है। वस्तुतः तुम जानते भी हो कि किस नामसे जानी जानेवाली वस्तु किस आकारकी होती है, परंतु तुम निश्चिततः बता नहीं सकते; क्योंकि परलोकमें जब तुमने इन्हीं आकारोंकी वस्तुओंको देखा था, तब तुम सब जानते थे, परंतु अब उस समयको बहुत काल व्यतीत हो गया है, इसलिये अब तुम उसी आकारकी वस्तुओंको स्पर्श करके, उनके आकार और नामके तालमेलको ठीक नहीं बैठा पाते हो। इसलिये विभिन्न आकारोंकी वस्तुओंका अनुभव होते हुए भी तुम निश्चित रूपसे नहीं बता पाते। वस्तुतः परलोककी भाषा और इस लोककी भाषामें भी भिन्नता है। यदि तुम्हारे सामने परलोककी भाषाका ही प्रयोग किया जाय, तो तुम निश्चित रूपसे प्रत्येक वस्तुको पहचान लोगे; क्योंकि पूर्वजन्ममें तुम समस्त वस्तुओंका उपभोग कर चुके हो। इसी प्रकार न वह प्रकाश श्वेत है, न पीत है, अर्थात् अवर्ण है, परंतु वर्णरहित नहीं है। अर्थात् अब तुम निराकार, अवर्ण और सार्वभौम— तीन विशेषताओंसे युक्त प्रकाशको देख रहे हो। अर्थात् तुम संसारके सारको जान रहे हो। ब्रह्म, संसार जिसकी लीलामात्र है, उसे वेदोंने निराकार अवर्ण और सार्वभौम ही कहा है। इन तीनों गुणोंसे युक्त प्रकाशका 'आभास' स्थितप्रज्ञोंको ही होता है। परंतु तुम्हें भी हो रहा है। क्या यह अत्यन्त हर्षकी बात नहीं है?' गोपीनाथ गुरुदेवकी बातोंसे व्याकुल हो रहे थे। परंतु "आभास" शब्द सुनते ही उन्हें पुनः एक झटका-सा लगा और वे सुन्न हो गये, चाहते हुए भी कुछ न बोल सके।

गुरुदेवने आगे कहा— 'बेटा चन्दन! ब्रह्म ही संसारका सार है, वही संसारका सत्य एवं आधार है। समस्त जगत् मिथ्या है, स्वप्नमात्र है, कल्पना मात्र है। अतः यदि तुम संसारके सत्य, सार और आधारको जान रहे हो तो मिथ्यात्व-(जगत्-)को जाननेकी क्या आवश्यकता है? संसारका प्रत्येक मनुष्य पहले व्यावहारिक जगत्को जानता है, फिर प्रातिभासिक जगत्को। व्यावहारिक जगत् प्रातिभासिक जगत्से अधिक सत्य होता है, परंतु व्यावहारिक जगत्से भी अधिक सत्य पारमार्थिक जगत् (ब्रह्म) होता है। इसे यों समझो— जिस मनुष्यने सर्प नहीं देखा है, वह स्वप्नमें सर्प नहीं देख सकता और यदि स्वप्नमें सर्प देख भी ले तो उस पतली लम्बी-सी वस्तुको सर्पका नाम नहीं दे सकता; क्योंकि वह सर्पनामक वस्तुसे परिचित ही नहीं है। परंतु जब वह व्यावहारिक जगत्में सर्प देख लेता है, तब स्वप्नमें दीखनेवाले सर्पको भी जान लेता है और स्वप्निल सर्पके मिथ्यात्वको भी जान लेता है। इसी प्रकार पारमार्थिक जगत्-(ब्रह्म-) को जान लेनेवाला पुरुष संसार-(व्यावहारिक जगत्-) को भी जान लेता है और संसारके मिथ्यात्वको भी जान लेता है— '**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।**' अतः जब तुम स्वाभाविक रूपसे गम्य उस निराकार, प्रकाशरूप ब्रह्मका निरन्तर चिन्तन, मनन और ध्यान करते रहोगे, तब कुछ ही दिनोंमें तुम संसारकी वस्तुओंको भी देखने लगोगे; परंतु सत्य-(ब्रह्म-) को जान लेनेके बाद असत्य- (जगत्के पदार्थ-) को जानोगे तो जगत्का मिथ्यात्व विस्मृत नहीं कर सकोगे। जगत्के मिथ्यात्वका स्पष्ट बोध रहना ही, जगत्के पदार्थोंसे अनासक्त रहना ही, जीवन्मुक्ति है। वस्तुतः यह हम सब जानते हैं कि कण-कणमें

भगवान् हैं, परंतु हम कण-कणको भगवान् नहीं मान पाते; क्योंकि हम संसारकी विभिन्न आकारोंकी वस्तुओंको देखते हैं। सबके विभिन्न आकार और विभिन्न नाम होते हुए भी हम सबको एक ही नाम और एक ही आकारकी कैसे मान लें? हम सूअर और मनुष्यको, जिनका नाम, आकार, गुण, विशेषण और क्षमता सभी भिन्न हैं, एक ही कैसे मान लें? जबकि हम जानते हैं कि दोनोंमें एक ही जीवनीशक्ति (आत्मा) है। हम इसलिये ऐसा नहीं मान पाते; क्योंकि हमें उन दोनोंके भिन्न स्वरूप दिखायी देते हैं। परंतु ऐसे भिन्न स्वरूप दिखानेवाली बाधा तुम्हारे साथ नहीं है। तुम्हें तो प्रकाश दिखायी दे रहा है, तुम समस्त जगत्को उसी प्रकाशमय रूपमें देखोगे, उसीका ध्यान करोगे। जगत्के विभिन्न प्रपञ्चात्मक, आकर्षक पदार्थ तुम्हें प्रभावित नहीं कर सकेंगे और जब तुम्हें अनवरत ध्यानसे सही अर्थोंमें ब्रह्मानुभूति हो जायगी, तब तुम बंद आँखोंसे ही ब्रह्माण्डकी प्रत्येक वस्तुको देख सकोगे।' इतना कहकर ऋषिराज उठकर अपने चर्मपर जा बैठे और आँखें मूँद लीं। शिष्योंने जान लिया कि गुरुदेव समाधिस्थ हो गये हैं। एक शिष्य पुनः कुछ वनफल ले आया और गोपीनाथसे कहा— 'आपके आनेसे पूर्व गुरुजीने इन्हें अभिमन्त्रित किया है, घर जाकर चन्दनको खिला दीजिये।'

आज चन्दनकी अवस्था तीस वर्षकी है, वह सदा समाधिस्थ रहता है। किसीके कुछ पूछनेपर वह ब्रह्माण्डकी प्रत्येक वस्तुके विषयमें स्पष्ट और निश्चित जानकारी दे सकता है। संसारका कोई भी आवरण उसकी दृष्टिको सीमित नहीं कर सकता।

मानसे अभिमान मत करो

तुमको लोग प्रमुख बनावें, मान प्रदान करें, तुम्हें राजा-महाराजाकी ओरसे मान मिले और खिताब मिले, लोगोंमें तुम्हारी वाहवाही हो, सब यह कहें कि 'आप हमें ज्ञान दीजिये, हमें मार्ग दिखाइये, हमारी सँभाल रखिये, हम आपसे सनाथ हो गये हैं, आपके बिना हमारी कोई गति नहीं है,' तुमको फूलोंकी माला पहनायी जाय, लोग तुम्हारा पैर छुएँ, तुम्हें भगवान्-जैसा या भगवान् ही समझें— यह सब हो तो इससे फूल मत जाना। यह सारा आकर्षण तुम्हारे पतनके लिये है। तुम तो भगवान्के नियुक्त किये हुए उनके नौकर हो। यश मिले तो वह उनका है तुम्हारे हृदयमें बैठा हुआ जो तुम्हें प्रेरित करता है और कार्य करनेकी शक्ति प्रदान करता है, वही दूसरेमें है। तुम अपनेमें दूसरेसे कोई विशेषता मान लोगे तो वही तुम्हारा पतन है। जैसे तुम्हारा शरीर पञ्चभूतोंका है, उसी प्रकार दूसरोंका भी है। जिस प्रकार तुम्हारा आत्मा भगवत्-स्वरूप है उसी प्रकार सबका है। तुममें यदि कोई विशेषता दीख पड़ती है, तो वह चित्तकी निर्मलताको लेकर है। वह निर्मलता तो भगवान्की दयासे भगवान्की प्रसादी है, भगवान्की दी हुई है। दूसरे लोग मान दें तो उससे फूल मत जाओ। जिसके लिये वे मान देते हैं वह बुद्धिकी शक्ति, शरीरकी शक्ति या लक्ष्मी अथवा वैभव— चाहे जो कुछ हो सब भगवान्के दिये हुए हैं। भगवान्के ही हैं। इसलिये उनको अपना समझकर हर्षाओ मत और फूलो मत।



गीता माधुर्य–६

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

(छठा अध्याय)

भगवान् बोले—मैंने (दूसरे अध्यायसे पाँचवें अध्यायतक) कर्मयोगकी बहुत-सी बातें बता दीं, अब मैं कर्मयोगकी सार बात बताता हूँ। जो मनुष्य कर्मफलका अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंका आश्रय न लेकर कर्तव्य कर्म करता है, वही संन्यासी है और वही योगी है। केवल अग्नि और क्रियाका त्याग करनेवाला संन्यासी और योगी नहीं है इसलिये हे अर्जुन! लोग जिसको संन्यास (सांख्ययोग) कहते हैं, उसीको तू योग (कर्मयोग) समझ।

संन्यासी और योगीमें महिमा किस बातकी है?

संकल्पोंके त्यागकी; क्योंकि संकल्पोंका त्याग किये बिना अर्थात् अपने मनकी बात छोड़े बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी नहीं हो सकता।। १-२।।

योगी होनेमें खास हेतु क्या है?

जो योग-(समता-) में आरूढ़ होना चाहाता है, ऐसे मननशील योगीके लिये निष्कामभावसे कर्तव्य कर्म करना कारण है, और उसी योगारूढ़ मनुष्यकी शान्ति परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कारण है अर्थात् संसारके त्यागसे मिलनेवाली शान्तिका उपभोग न करना परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कारण है।। ३।।

उस योगारूढ़ मनुष्यके लक्षण क्या हैं?

जिसकी न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्ति है तथा न अपना कोई संकल्प ही है, वह मनुष्य योगारूढ़ है।। ४।।

मनुष्यको योगारूढ़ होनेके लिये क्या करना चाहिये?

स्वयंको आप ही अपना उद्धार करना चाहिये, अपना पतन नहीं करना चाहिये; क्योंकि यह आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।। ५।।

स्वयं अपना मित्र और अपना शत्रु कैसे है?

जिसने अपने-आपसे अपनेपर विजयकर ली है अर्थात् जो असत्‌के साथ सम्बन्ध नहीं मानता वह आप ही अपना मित्र है; और जिसने अपनेपर विजय नहीं की है अर्थात् जो असत्‌के साथ अपना सम्बन्ध मानता है वह आप ही अपना शत्रु है।। ६।।

आप ही अपना मित्र होनेसे क्या होगा?

जिसने अपने-आपको जीत लिया है, वह प्रारब्धके अनुसार आनेवाली अनुकूलता-प्रतिकूलतामें, वर्तमानमें किये जानेवाले कर्मोंकी सफलता-विफलतामें तथा दूसरोंके द्वारा किये गये मान-अपमानमें निर्विकार रहता है। अतः उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।। ७।।

परमात्माको प्राप्त हुए मनुष्यके क्या लक्षण हैं, भगवन्?

उसका अन्तःकरण सदा ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त रहता है; उसका सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर अधिकार रहता है; वह सभी परिस्थितियोंमें निर्विकार रहता है; मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्णमें उसकी समबुद्धि रहती है। केवल पदार्थोंमें ही नहीं, सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधु और पापी व्यक्तियोंमें भी उसकी समबुद्धि रहती है। ऐसा समबुद्धिवाला मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है।। ८-९।।

वह समबुद्धि केवल कर्मयोगसे ही होती है या किसी दूसरे साधनसे भी होती है?

वह समबुद्धि ध्यानयोगसे भी होती है; इसलिये मैं उस ध्यानयोगकी विधि बताता हूँ। ध्यानयोगी भोगबुद्धिसे संग्रहका त्याग करके, कामनारहित होकर, अन्तःकरण तथा शरीरको वशमें रखकर तथा एकान्तमें अकेला रहकर अपने मनको निरन्तर परमात्मामें लगाये।। १०।।

मनको परमात्मामें लगानेके लिये अर्थात् ध्यान करनेके लिये उपयोगी बातें क्या हैं?

शुद्ध, पवित्र स्थानपर ध्यानयोगी क्रमशः कुश, मृगछाला और पवित्र वस्त्र बिछाये। वह आसन न

अत्यन्त ऊँचा हो और न अत्यन्त नीचा हो तथा स्थिर हो अर्थात् हिलने-डुलनेवाला न हो।। ११।।

ऐसा आसन बिछाकर क्या करे?

उस आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ध्यानयोगका अभ्यास करे।। १२।।

उस आसनपर किस प्रकार बैठना चाहिये?

शरीर, गरदन और मस्तकको एक सूतमें अचल करके तथा इधर-उधर न देखकर केवल अपनी नासिकाके अग्रभागको देखते हुए स्थिर होकर बैठे।। १३।।

ऐसे आसनसे भी किस भावसे बैठना चाहिये?

जिसका अन्तःकरण राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे रहित है, जो भय-रहित है और जो ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करता है, ऐसा सावधान योगी मनको संसारसे हटाकर मेरेमें लगाता हुआ मेरे परायण होकर बैठे।। १४।।

इसका फल क्या होगा?

इस प्रकार अपने मनको निरन्तर मेरेमें लगाते हुए वशमें किये हुए मनवाले योगीको मेरेमें रहनेवाली निर्वाणपरमा शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।। १५।।

इस प्रकारसे ध्यान करनेवाले तो कई होते हैं, पर उन सबका ध्यानयोग सिद्ध क्यों नहीं होता भगवन्?

हे अर्जुन! अधिक खानेवालेका और बिल्कुल न खानेवालेका तथा अधिक सोनेवालेका और बिल्कुल न सोनेवालेका यह योग सिद्ध नहीं होता।। १६।।

तो फिर यह योग किसका सिद्ध होता है?

जिसका आहार (भोजन) और विहार (घूमना-फिरना) यथोचित है, जिसकी कर्मोंमें चेष्टा यथोचित है और जिसका सोना-जागना भी यथोचित है, उसीका यह दुःखोंका नाश करनेवाला योग सिद्ध होता है।। १७।।

दुःखोंका नाश करनेवाला यह योग कब सिद्ध होता है?

जिस कालमें अच्छी तरहसे वशमें किया हुआ चित्त अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है और स्वयं सम्पूर्ण पदार्थोंसे विमुख हो जाता है अर्थात् अपने लिये किसी भी पदार्थकी किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं समझता, तब वह योगी कहलाता है अर्थात् उसका योग सिद्ध हो जाता है।। १८।।

योगीके उस चित्तकी क्या अवस्था होती है?

जैसे स्पन्दनरहित वायुके स्थानपर रखे हुए दीपककी लौ थोड़ी-सी भी हिलती-डुलती नहीं, ऐसी ही अवस्था ध्यानयोगका अभ्यास करनेवाले योगीके स्थिर चित्तकी हो जाती है।। १९।।

चित्तकी ऐसी अवस्था होनेपर क्या होता है?

योगके अभ्याससे निरुद्ध हुआ चित्त जब समाधिके सुखसे भी उपराम हो जाता है, तब योगी अपने-आपमें अपने-आपको देखता हुआ अपने-आपमें सन्तुष्ट हो जाता है।। २०।।

अपने-आपमें सन्तुष्ट होनेपर क्या होता है?

योगीको आत्यन्तिक (सात्त्विक सुखसे विलक्षण), अतीन्द्रिय (राजस सुखसे विलक्षण) और बुद्धिग्राह्य (तामस सुखसे विलक्षण) सुखका अनुभव होता है। ऐसे वास्तविक सुखमें स्थित होनेपर वह ध्यानयोगी फिर कभी अपने स्वरूपसे विचलित नहीं होता।। २१।।

वह किस कारणसे विचलित नहीं होता?

वह जिस लाभ-(सुख-) को प्राप्त करता है, उससे बढ़कर कोई दूसरा लाभ उसके माननेमें भी नहीं आता; और उसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह जिस स्थितिमें स्थित है, उसमें सुखकी तो कमी रहती नहीं और दुःख वहाँ पहुँचता नहीं।। २२।।

ऐसे विलक्षण सुखको प्राप्त करनेके लिये क्या करना चाहिये?

जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है अर्थात् जिसमें संसारके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद है, उसीको 'योग' नामसे जानना चाहिये। ऐसे योगको न उकताये हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक प्राप्त करना चाहिये।। २३।।

अपने स्वरूपके ध्यानसे जिस योग-(साध्यरूप समता-) की प्राप्ति होती है, उसकी प्राप्तिका और भी कोई उपाय है?

हाँ, निर्गुण-निराकारका ध्यान है। संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंका सर्वथा त्याग करके और मनसे इन्द्रिय-समूहको सभी ओरसे हटाकर धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा धीरे-धीरे संसारसे उपराम हो जाय; और सब जगह परिपूर्ण परमात्मामें मन-बुद्धिको स्थिर करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे।। २४-२५।।

अगर चिन्तन हो जाय, तो?

अभ्यास करे अर्थात् यह अस्थिर और चंचल मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर इसको एक परमात्मामें ही लगाये।। २६।।

ऐसा करनेसे क्या होगा?

रजोगुणी वृत्तियोंसे रहित शान्त मनवाले, पापरहित और ब्रह्मस्वरूप योगीको उत्तम (सात्त्विक) सुखकी प्राप्ति होगी।। २७।।

उसके बाद क्या होगा?

अपने-आपको सदा परमात्मामें लगाते हुए उस पापरहित योगीको सुखपूर्वक ब्रह्मस्वरूप अत्यन्त सुखकी प्राप्ति हो जायगी।। २८।।

यहाँतक आपने सगुण-साकारका, अपने स्वरूपका और निर्गुण-निराकारका ध्यान करनेवालोंका वर्णन कर दिया, पर वे संसारको किस दृष्टिसे देखते हैं, इसका वर्णन नहीं किया। अब भगवन्, यह बताइये कि अपने स्वरूपका ध्यान करनेवाला इस संसारको किस दृष्टिसे देखता है?

ध्यानयोगसे युक्त अन्तःकरणवाला वह योगी अपने-आपको (स्वरूपको) सम्पूर्ण प्राणियोंमें देखता है और सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने-आपमें (स्वरूपमें) देखता है, इसलिये वह समदर्शी होता है।। २९।।

जो आपके सगुण-साकार स्वरूपका ध्यान करता है, वह इस संसारको किस दृष्टिसे देखता है?

वह सबमें मेरेको देखता है और सबको मेरेमें देखता है, इसलिये उसके सामने मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे सामने अदृश्य नहीं होता।। ३०।।

आप और वह योगी—दोनों आपसमें अदृश्य क्यों नहीं होते?

वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित मेरे साथ एक होकर मेरा भजन करता है, इसलिये वह सब बर्ताव करता हुआ भी नित्य-निरन्तर मेरेमें ही स्थित रहता है। फिर हम दोनों एक-दूसरेके लिये अदृश्य कैसे हो सकते हैं?— नहीं हो सकते।। ३१।।

जो आपके निर्गुण-निराकार स्वरूपका ध्यान करता है, वह इस संसारको किस दृष्टिसे देखता है?

जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने शरीरके अङ्गोंमें तथा उनके सुख-दुःखमें अपनेको समान देखता है, ऐसे ही वह योगी अपने शरीरकी उपमासे सम्पूर्ण प्राणियोंमें तथा उनके सुख-दुःखमें अपनेको समान देखता है। इसलिये वह योगी सर्वश्रेष्ठ माना गया है।। ३२।।

अर्जुन बोले— अभीतक आपने समताकी प्राप्तिके लिये जिस ध्यानयोगका वर्णन किया, हे मधुसूदन! मनकी चंचलताके कारण उस ध्यानयोगमें स्थिर स्थिति नहीं देखता हूँ; क्योंकि हे कृष्ण! मन बड़ा ही चंचल, प्रमथनशील, बलवान् और जिद्दी है। उसका निग्रह करना मैं वायुका निग्रह करनेकी तरह अत्यन्त कठिन मानता हूँ।। ३३-३४।।

भगवान् बोले— तुम्हारा कहना बिल्कुल ठीक है महाबाहो, वास्तवमें यह मन बड़ा चंचल है और इसका निग्रह करना बड़ा कठिन है। परन्तु हे कुन्तीनन्दन! अभ्यास और वैराग्यसे इसका निग्रह किया जाता है। फिर भी भैया, इसमें एक बात और है। वास्तवमें ध्यानयोगकी सिद्धिमें मनकी चंचलता बाधक नहीं है; किन्तु मन और इन्द्रियोंका असंयम (वशमें न होना) ही बाधक है। इसलिये जिसका मन और इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, उसके द्वारा ध्यानयोग सिद्ध होना कठिन है। परन्तु जिसका मन और इन्द्रियाँ वशमें हैं, उसके द्वारा ध्यानयोग सिद्ध हो सकता है— ऐसा मेरा मत है।। ३५-३६।।

अर्जुन बोले— हे कृष्ण! जिसकी साधनमें श्रद्धा है, पर जिसका प्रयत्न शिथिल है, ऐसे साधककी अन्तकालमें साधनमें स्थिति न रही, तो वह योगसिद्धिको प्राप्त न करके किस गतिमें जाता है? संसारके आश्रयसे रहित और परमात्मप्राप्तिके

मार्गसे विचलित उभयभ्रष्ट साधक छिन्न-भिन्न बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता है? हे कृष्ण! यह मेरा सन्देह है। मेरे इस सन्देहको आप ही सर्वथा मिटा सकते हैं; क्योंकि इस सन्देहको आपके सिवाय दूसरा कोई मिटा ही नहीं सकता।। ३७-३९।।

भगवान् बोले— हे पार्थ! उसका न तो इस लोकमें और न परलोकमें ही पतन होता है; क्योंकि हे प्यारे! कल्याणकारी काम करनेवाला कोई भी साधक दुर्गतिमें नहीं जाता।। ४०।।

वह दुर्गति में नहीं जाता, तो फिर कहाँ जाता है?

जिस साधकके भीतर सांसारिक सुखकी कुछ इच्छा रह गयी है, ऐसा योगभ्रष्ट साधक पुण्यकर्म करनेवालोंके लोकों— (स्वर्ग आदि ऊँचे लोकों-) में जाता है और वहाँ बहुत वर्षोंतक रहकर मृत्युलोकमें शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है। परन्तु जिस साधकके भीतर सांसारिक सुखकी इच्छा नहीं है और अन्तसमयमें किसी विशेष कारणसे योगभ्रष्ट हो जाता है, वह स्वर्ग आदि लोकोंमें न जाकर सीधे ही तत्त्वज्ञ योगियोंके कुलमें जन्म लेता है। इस प्रकारका जन्म इस लोकमें अत्यन्त दुर्लभ है।। ४१-४२।।

तत्त्वज्ञ योगियोंके कुलमें जन्म लेनेपर क्या होता है?

हे कुरुनन्दन! वहाँपर उसको पूर्वजन्मकृत साधन-सामग्री अनायास ही प्राप्त हो जाती है। उससे वह साधनकी सिद्धिके लिये फिर तत्परतासे यत्न करता है।। ४३।।

आपने तत्त्वज्ञ योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवालेकी बात तो बता दी, अब यह बताइये कि शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवालेका क्या होता है?

वह योगभ्रष्ट भोगोंके परवश होते हुए भी पूर्वजन्ममें किये हुए अभ्यास- (साधन-) के कारण परमात्माकी तरफ खिंच जाता है।

क्यों खिंच जाता है?

भैया! जब योगका जिज्ञासु भी वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है, फिर जो योगभ्रष्ट है, योगमें लगा हुआ है, उसका तो कहना ही क्या है!।। ४४।।

परमात्माकी तरफ खिंच जानेपर क्या होता है?

वह बड़ी तेजीसे साधनमें लग जाता है और सम्पूर्ण पापोंसे रहित होकर वह अनेक जन्मोंसे सिद्ध हुआ योगी (साधक) परमगति परमात्माको प्राप्त हो जाता है।। ४५।।

जो योगी परमगतिको प्राप्त हो जाता है, उसकी क्या महिमा है?

वह योगी सकामभाववाले तपस्वियों, ज्ञानियों और कर्मियोंसे भी श्रेष्ठ है— ऐसा मेरा मत है। इसलिये हे अर्जुन! तू भी योगी हो जा।। ४६।।

योगियोंमें भी श्रेष्ठ कौन है?

जो मेरेमें तल्लीन हुए अन्तःकरणसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मेरा भजन करता है, वह मेरा भक्त सम्पूर्ण योगियोंमें श्रेष्ठ है।। ४७।।

सत्कर्मकी समाप्ति नहीं होती

साधना और सत्कर्मकी समाप्ति कभी नहीं होती।

जीवनके अन्तिम क्षणोंतक साधना एवं सत्कर्म चलते रहते हैं। साध्यकी प्राप्तिके पश्चात् भी साधना तो चलती ही रहनी चाहिये।

इसीलिये वैष्णव तो प्रभु प्राप्तिके पश्चात् भी साधनाका प्रवाह चालू ही रखते हैं।

याद रखो, जपकी पूर्णाहुति कभी नहीं होती।

बताओ, हमारे भोजनकी पूर्णाहुति कभी हुई है? और, क्या कभी हो सकती है?



प्राणियोंपर दया कीजिये, गोरक्षाका उपाय कीजिये

आर्य-संस्कृतिमें अहिंसा परम धर्म है। श्रुतियाँ अहिंसा धर्मको सर्वश्रेष्ठ कहती हैं, **'अहिंसा परमो धर्मः'** उन्हींका सार है। गोस्वामी तुलसीदासने उसी आधार-पर कहा है—

'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।'

मनुष्य विवेकशील जीव है। वह यदि तटस्थ भावसे विचार करे तो उसे शास्त्रोंका यह निर्णय समझते देर नहीं लगेगी कि सभी जीव एक समान हैं और सभी जीवोंको दुःख-सुखकी समान अनुभूति होती है। सभीके प्राण वैसे ही प्रिय हैं जैसे मनुष्यके। इसके सिवाय सभी जीव सर्वसत्ता-सम्पन्न ईश्वरके बनाये हुए हैं और अतएव सभी जीव समानरूपसे उनके स्नेह और कृपाके पात्र हैं। पर खेद इस बातका है कि 'सृष्टिका शृङ्गार' कहा जानेवाला मानव विवेकको ताकपर रखकर इन जीवोंको कष्ट पहुँचाता है, क्रूरतासे पेश आता है और अपने तुच्छ स्वार्थ अथवा क्षणिक तृप्तिके लिए उनकी जघन्य हत्यातक कर डालता है। मानव यह नहीं सोचता कि हमारी तो 'क्षणिकातृप्ति' है और वह बेचारा प्राणी प्राणोंसे वियुक्त हो जाता है— सदाके लिये संसारसे चला जाता है। भला, यह कहाँका न्याय है ! भारतवर्ष धर्मप्राण देश कहा जाता रहा है और आज भी धर्मकी दुन्दुभि बजायी जाती है, पर इस एक मोटी धर्म्य-बातपर न तो मानवसमाज उदार है और न सरकार। अपनी प्रवृत्ति और आर्थिक प्रवृद्धिके तहत हिंसा एक साधारण-सी बात हो गयी है। केवल मानव-हिंसा मात्र गर्हित समझी जाती है— जबकि जीव-हिंसा मात्रसे जन-समूहको विरत करने और उनकी (जीवोंकी) सेवा-शुश्रूषा करनेका सम्राट् अशोकका आदर्श ज्वलन्त रूपमें इतिहासके पृष्ठोंको समादर दे रहा है एवं हम भी राष्ट्रियरूपमें उन्हींका आदर्श-प्रतीक लेकर चलनेका दावा करते हैं। पर तथ्य क्या है ? मूक, निरीह पशुओंपर अत्याचार, पीड़न और क्षणिक तृप्तिके लिए उनकी निर्मम हत्या! तीर्थंकर महावीरकी भूतव्यापिनी दृष्टि सनातनधर्मकी इस महान् धर्म अहिंसाकी ओर व्यापक रूपसे गयी थी और उन्होंने दयाभावके साथ अहिंसाका प्रचार-प्रसार किया। अब धर्म या सम्प्रदायके नामपर उनकी भावनाओंको मानव-मनोवृत्तिने व्यवहारमें संकुचित कर दिया है। वस्तुतः वे भूतमात्रके सुहृद् थे और उन्होंने प्रत्येक जीवको समान दृष्टिसे देखनेके बाद अहिंसा धर्मकी महत्ताका प्रचार-प्रसार किया था। हमें गंभीरतासे उनकी भावनाओं और उपदेशोंको अपनाना चाहिये और जीव-मात्रके प्रति दयाभाव लाकर उनके साथ होनेवाली क्रूरताको रोकना चाहिये। यही परमधर्म है और उसका पालन करना नितान्त श्रेयस्कर है।

वर्तमान समयमें गोवध-बन्दीका आन्दोलन चल रहा है। गोवध तो और पशुओंके साथ होनेवाली क्रूरतासे भी बढ़कर कृतघ्नता-मूलक जघन्य पाप है। गोवध धार्मिक दृष्टिसे महापातक तो है ही, आर्थिक दृष्टिसे भी अकल्याणकर है। सरकारी स्तरपर गोवध-बन्दीके सन्दर्भमें जो कानून बने हैं, उनमें जो व्याप्ति तथा सीमा-निर्धारण है, वे पर्याप्त नहीं हैं। यही कारण है कि कई राज्योंमें गोवध एक विशेषरूपमें कानूनी हो गया है। गोवधबन्दी कानून वहाँ एकदेशी होकर व्यापक नहीं रह गया है। यह कृषिप्रधान देशका दुर्भाग्य है कि कृषिमें अति उपयोगी गोवंशका नाश वर्जनीय कानूनोंके रहते प्रायः होता चला जा रहा है। केन्द्रीय कानूनका अभीतक न बन सकना हमारी अपनी संस्कृति और बहुमत मान्यताकी धारणाके प्रति हमारी तथा सरकारकी उदासीनता या अशक्तता सूचित करता है। यह राष्ट्रके लिये चिन्त्य विषय है।

गायकी महिमा शास्त्रोंमें **'अमृतस्यनाभिः'** कहकर बतायी गयी है। गाय जीवनभर 'धाय' बनी रहती है

और मात्र तृण खाकर भी निःशंक जीवित नहीं रह पाती! गोधन भारतका प्रमुख धन था जो अब आर्थिक दृष्टिसे भी समाप्तप्राय होता जा रहा है। जिस देशमें यशोदाने 'गोधन की सौं' कहकर अपनी बात प्रमाणित की है, उस देशमें अब कौन गोधनी है? अब तो प्रत्येक भारतवासीके यहाँ एक भी गाय नहीं दीखती। इस दिशामें गोवध बन्दी चाहनेवाले गोभक्तोंको स्वयं भी कम-से-कम एक गाय रखनी चाहिये और उसे आजीवन लालित-पालित करना चाहिये। पर इधर क्या धार्मिक जगत्‌का भी ध्यान है? यदि गाँव-गाँव गोरक्षिणी हो जाय और बूढ़े, अपाहिज गोवंशको प्रश्रय और संरक्षण दे देनेकी व्यवस्था रहे तो गोवध-बन्दी अपने आप होने लग जायगी। क्या गोवध-बन्दी चाहनेवाले समाजको यह वाञ्छनीय है? यदि हाँ, तो ऐसे उपाय शीघ्र किये जायँ। एतदर्थ समितियाँ गठित हों और गोवध-बन्दीमें लगे लोग इस कार्यक्रमको अपनाकर इस दिशामें सर्वाधिक मनोयोग लगा दें। पूर्णरूपसे गोहत्या बन्दीके लिये एक प्रभावी केन्द्रीय कानूनकी भी आवश्यकता है। भारतीय जनता-द्वारा अधिकाधिक पत्र और हस्ताक्षर आदि भेजकर सरकारका ध्यान आकर्षित करना चाहिये। ऐसे ही अन्य जीवोंके प्रति होनेवाली क्रूरता रोकनेके लिए कारगर उपाय किये जायँ। तभी मानवकी लौकिक स्वार्थ-संकुचित दृष्टि व्यापक दयाभावकी ओर झुकेगी और निरीह पशुओंकी यातना-यन्त्रणा एवं हत्याएँ रुक सकेंगी। केवल लेख-व्याख्यान या पुस्तक-स्मारिकाओंसे काम नहीं चलेगा। हम आचार्य शंकर के शब्दोंमें प्रार्थना करते हैं कि '**भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः**'— 'भगवन्! प्राणियोंपर सबकी दयाका विस्तार हो और इस प्रकार परमधर्म अहिंसाके पालनसे सभी संसार सागरसे पार हो जायँ।'

सुदामा चरित

(भक्तगाथा)

[सं ११, पृ. सं.२८१ से आगे]

भगवान्‌ने अपने प्रिय मित्रके शरीरमें दिव्य गंधयुक्त चन्दन, अगरु, कुङ्कुम लगाया और सुगन्धित धूप-दीप इत्यादिसे पूजन करके उन्हें दिव्य भोजन कराया, पान-सुपारी दी। ब्राह्मण सुदामाका शरीर अत्यन्त मलीन और क्षीण था। देहभरमें स्थान-स्थानपर नसें निकली हुई थीं। वह एक फटा-पुराना कपड़ा पहने हुए थे।

परन्तु भगवान्‌के प्रियसखा होनेके कारण साक्षात् लक्ष्मीका अवतार रुक्मिणी अपनी सखी देवियोंसहित रत्नदण्डयुक्त व्यजन चामर हाथोंमें लिये परम दरिद्र भिक्षुक ब्राह्मणकी बड़े चावसे सेवा-पूजा करने लगीं। भगवान् श्रीकृष्ण सुदामाका हाथ अपने हाथमें लेकर विद्यार्थिकालकी मनोहर बातें करने लगे। बाल्यकालकी एक गुरुसेवा और गुरुस्नेहकी सुन्दर कथा सुदामाको याद दिलायी। सुदामा भगवान्‌की वाणीको सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्हें धनकी कामना तो पहले ही रत्तीभर भी नहीं थी, परंतु उनके मनमें यदि कहीं छिपी हुई किसी सूक्ष्म कामनाकी कोई कल्पना भी की जा सकती थी तो वह भी अब नष्ट हो गयी, सुदामा बोले—

किमस्माभिरनिर्वृत्तं देवदेव जगद्‌गुरो।
भवता सत्यकामेन येषां वासो गुरावभूत्॥
यस्यच्छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभोः।
श्रेयसां तस्य गुरुषु वासोऽत्यन्तविडम्बनम्॥

(भा० १० । ८० । ४४-४५)

'हे देवदेव ! हे जगद्गुरो ! आप सत्य संकल्प हैं, सौभाग्यवश गुरुकुलमें मैं आपका सङ्ग पाकर कृतार्थ हो गया। हे नाथ ! आपकी कृपासे मुझको कोई भी कामना नहीं है, सब फल प्राप्त हैं। हे प्रभो ! सम्पूर्ण मङ्गलोंकी उत्पत्तिका स्थान वेदमय ब्रह्म आपकी मूर्ति है। स्वामिन् ! आपका गुरुके यहाँ रहकर विद्या पढ़ना अत्यन्त विडम्बना या लोकाचारमात्र है।'

भगवान्ने प्रिय मित्रकी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देखते हुए हँसकर कहा कि भाई ! तुम मेरे लिये कुछ भेंट भी लाये हो ? भक्तोंकी प्रेमपूर्वक दी हुई जरा-सी वस्तुको भी मैं बहुत मानता हूँ; क्योंकि मैं प्रेमका भूखा हूँ। अभक्तके द्वारा दी हुई अपार सामग्री भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।*

(भा० १० । ८१ । ४)

'जो भक्त पत्र, पुष्प, फल और जल आदि मुझे प्रेमसे अर्पण करता है उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमीभक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पदार्थ मैं प्रेमसहित खाता हूँ।'

भगवान्के इतना कहनेपर भी सुदामा चावलोंकी पुटकी भगवान्को नहीं दे सके।

तंदुल तिय दिन्हें हुते आगे धरियो जाय।
देखि राजसंपति विभव दे नहिं सकत लजाय।।

(नरोत्तम)

भगवान्की अतुल राजसम्पत्ति और वैभव देखकर सुदामाको चावल देनेमें बड़ी लज्जा हुई। भगवान् हरि सब जानते थे। उन्होंने फिर प्रेमसे कहा—

कछु भाभी हमको दियो सो तुम काहे न देत।
चाँपि गाठरी काँखमें रहे कहो केहि हेत।।

(नरोत्तम)

सुदामाने शिर झुका लिया और चावलकी पुटकी नहीं दी; तब—

सर्वभूतात्मदृक् साक्षात्तस्यागमनकारणम्।
विज्ञायाचिन्तयन्नायं श्रीकामो माभजत् पुरा।।
पत्न्याः पतिव्रतायास्तु सखा प्रियचिकीर्षया।
प्राप्तो मामस्य दास्यामि सम्पदोऽमर्त्यदुर्लभाः।।

(भा० १० । ८१ । ६-७)

'सब प्राणियोंके अन्तर्की बात जाननेवाले हरिने अपने निकट ब्राह्मणके आनेका कारण समझकर विचार किया कि यह मेरा निष्काम भक्त और प्रिय सखा है। इसने धनकी कामनासे पहले कभी मेरा भजन नहीं किया और न अभी इसे किसी तरहकी कामना है, इसीलिये यह चावलकी भेंट देना नहीं चाहता। परंतु यह अपनी पतिव्रता पत्नीकी प्रार्थनासे मेरे पास आ गया है, अतएव इसे मैं वह (भोग और मोक्षरूप) सम्पत्ति दूँगा जो देवताओंको भी दुर्लभ है। यों विचारकर भगवान्ने 'यह क्या है' कहकर जल्दीसे सुदामाकी बगलमें दबाई हुई वह चावलोंकी पुटकी जबरदस्ती खींच ली तो—

जीरन पट फट छुटि परे बिखरि गये तेहि ठौर।

पुराना फटा कपड़ा था, पुटकी खुल गयी और चावल चारों ओर बिखर गये। भगवान् बड़े प्रेमसे उन्हें बटोरकर कहने लगे—

नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः।।

'हे सखा ! यही तो मुझको अत्यन्त प्रसन्न करनेवाली प्यारी भेंटकी सामग्री है। ये चावल मुझको और (मेरे साथ ही) समस्त विश्वको तृप्त कर देंगे।' यों कहकर एक मुट्ठी चावल फाँका और उसके दिव्य स्वादकी सराहना करने लगे।

तुरन्त ही दूसरी मुट्ठी भरी। इतनेमें ही पास बैठी हुई हरिचरणकमलोंकी नित्यकिङ्करी, अनन्याश्रया लक्ष्मीरूपिणी जगज्जननी श्रीरुक्मिणीने परब्रह्म भगवान् यदुनन्दनका हाथ तुरन्त पकड़ लिया।

---

* श्रीमद्भगवद्गीताके नवम अध्यायका २६ वाँ श्लोक भी ठीक यही है।

काँपि उठी कमला मन सोचत
मोसों कहा हरिको मन औंको।
ऋद्धि कंपी नव निद्धि कंपी सब
सिद्धि कंपी बभना यह धौंको।।
शोक भयो सुरनायकको जब
दूसरि बार लयो भरि झोंको।
मेरु डरै बकसै जिन मोहिं
कुबेर चबावत चाँवर चौंको।।

हूल हियरामें कान काननपरी है टेर,
भेटत सुदामैं श्याम बनैं न अघात हीं।
कहे नरोत्तम ऋद्धि सिद्धिनमें सोर भयो
ठाढ़ी थरहरे और सोचे कमला तहीं।
नागलोक लोक सब ओक ओक शोक थोक
ठाढ़े थरहरैं मुखसे कहैं न बात हीं।
हालो पर्‌यो लोकनमें लालो पर्‌यो चक्रिनमें
चालो पर्‌यो लोगनमें चाँवर चबातहीं।।

(नरोत्तम)

श्री रुक्मिणीजीने कहा—

एतावताऽलं विश्वात्मन् सर्वसम्पत् समृद्धये।
अस्मिंल्लोकेऽथवाऽमुष्मिन् पुंसस्त्वत्तोषकारणम्।।

(भा० १० । ८१ । ११)

'हे विश्वरूप! बस कीजिये। आपकी इतनी प्रसन्नता ही मनुष्योंकी सबसे ऊँची श्रीवृद्धिके लिये यथेष्ट है। मेरी कृपासे मिलनेवाली इस लोक और परलोककी आपकी रची हुई सब प्रकारकी सम्पत्ति अथवा ऐश्वर्य इस ब्राह्मणको इस एक मुट्ठी चावलसे ही मिल गया।' अब और चावल फाँक कर क्या आप मुझको भी दे डालना चाहते हैं।

माता लक्ष्मी ! धैर्य रखिये। भगवान् आपको नहीं देते। वे तो स्वयं अपने आपको देते हैं जो किसीके रोकनेपर रुकते नहीं। वास्तवमें भक्तोंको आपसे काम ही क्या है ? वे आपके स्वामीके उपासक हैं। आप उनकी सेवा करनेके लिये साथ रहें तो आपकी मर्जी ! अस्तु, सुदामाजी कुछ समय तक वहाँ ठहरे। भगवान्ने अपनी पटरानियोंसहित सुदामाकी बड़ी सेवा की।

नित नित सब द्वारावती प्रभु दिखलायी आप।
भरे बाग अनुराग सब जहाँ न व्यापहिं ताप।।
परमकृपा दिन दिन करी कृपानाथ यदुराय।
मित्र भावना बिस्तरी दूनों आदर भाय।।

(नरोत्तम)

श्रीकृष्ण मिलनका अतुल सुख अनुभव कर सुदामाजी भगवान्की आज्ञा लेकर घरको चले। विश्वपिता आनन्दमय परमात्मा श्रीकृष्ण बहुत दूरतक सुदामाके साथ-साथ गये और प्रणाम तथा विनीत प्रार्थना भरे वचनोंसे प्रसन्न करके प्रिय मित्रको बिदा किया। श्रीकृष्ण महाराजने उन्हें कुछ भी धन नहीं दिया और न सुदामाने उनसे कुछ माँगा ही। यह बात नहीं कि उनके मनमें माँगनेकी तो कामना रही हो, परंतु लज्जासे या 'बिना माँगे अधिक मिल जायगा, भगवान् सब जानते हैं, मैं क्या कहूँ, ये आप ही दे देंगे'—इस भावसे न माँगा हो; वास्तवमें उनके मनमें कामनाका कहीं लेश भी नहीं था। वे तो श्रीकृष्णका दर्शन पाकर परम आनन्दको प्राप्त हो गये। स्त्रीके कहनेपर धनकी इच्छासे जो उन्हें आना पड़ा था उन्हें अपनी इसी कृपणता पर बड़ी लज्जा हो रही थी। सुदामा मन-ही-मन विचारते हुए चले जा रहे हैं—

अहो ! ब्रह्मण्यदेवस्य दृष्टा ब्रह्मण्यता मया।
यद्दरिद्रतमो लक्ष्मीमाश्लिष्टो बिभ्रतोरसि।।
क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः।
ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः।।
निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्के भ्रातरो यथा।
महिष्या वीजितः श्रान्तो बालव्यजनहस्तया।।
शुश्रूषया परमया पादसंवाहनादिभिः।
पूजितो देवदेवेन विप्रदेवेन देववत्।।
स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम्।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्।
अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्।
इति कारुणिको नूनं धनं मे भूरि नाददात्।।

(भा० १० । ८१ । १५-२०)

'अहो ! मैंने ब्रह्मण्यदेव भगवान्‌की ब्रह्मण्यता भलीभाँति देखी। देखो, उनके वक्षस्थलमें साक्षात् लक्ष्मी निवास करती हैं, तथापि उन्होंने मुझे ब्राह्मण समझकर गलेसे लगा लिया और जैसे बड़े भाईका आदर किया जाता है उसी तरह अपनी प्रियाके पलंगपर मुझे बैठाया और मेरी रास्तेकी थकावट दूर करनेके लिये साक्षात् लक्ष्मीजीकी अवतार रुक्मिणीजी मुझपर चँवर डुलाने लगीं। ,जैसे इष्टदेवका भक्तिपूर्वक पूजन किया जाता है वैसे ही श्रीहरिने अपने हाथोंसे मेरा पूजन किया, मेरे पैर दबाये और मेरी परम सेवा की। (यही तो भक्तोंकी विशेषता है। भगवान्‌को तो सब पूजते हैं परंतु उन्हें स्वयं अपने हाथों सामग्री इकट्ठीकर भक्तोंकी पूजा करनी पड़ती है।) सुदामा मन-ही-मन कहते हैं, उन श्रीहरिके चरणोंकी सेवा, मनुष्योंको स्वर्ग, मोक्ष, इस लोककी महान् सम्पत्ति और सब प्रकारकी सिद्धियोंको देनेवाली है। तथापि परम कृपालु भगवान्‌ने यह विचारकर मुझे धन नहीं दिया कि यह निर्धन ब्राह्मण धन पानेसे अत्यन्त गर्वित होकर मेरा स्मरण नहीं करेगा।'

यह तो भक्तकी भावना है। जो धन न मिलनेपर भगवान्‌को कोसते हैं वे तो धनके भक्त हैं। भगवान्‌को तो उन लोगोंने धनका साधन बनाना चाहा है। जगत्‌के मनुष्यो ! देखो, देखो ! एकबार सुदामाके हृदयकी ओर आँख उठाकर और अपने हृदयका परदा हटाकर। घरमें अन्नका दाना नहीं है, पहननेको पाँच हाथ कपड़ा नहीं है, रहनेको कच्ची झोंपड़ी नहीं है, बच्चे दाने-दानेके लिये तरस रहे हैं, स्त्रीको कई दिनोंकी भूखी छोड़कर आये हैं, दरिद्रताने मानों प्रत्यक्षरूपसे प्रकट होकर सारे परिवारको ढक रखा है, इतनेपर भी माँगनेकी इच्छा नहीं हैं; पतिव्रता स्त्रीके वचनोंसे आना पड़ा, परंतु माँगना बन नहीं पड़ा; भावना ही नहीं रही, यह नहीं सोचा कि घरमें बच्चोंकी क्या दशा होगी, स्त्रीसे जाकर क्या कहूँगा। राजराजेश्वर परमप्रेमी मित्रके यहाँसे जाकर उस स्त्रीको क्या उत्तर दूँगा जिसके अपने और बच्चोंके पेट भूखके मारे सिकुड़ गये हैं और जिसके बदन ढाँपनेको पूरा एक कपड़ा भी नहीं है। मामूली बात नहीं है। बड़े-बड़े वीर ऐसी अवस्थामे घबराकर कर्तव्य-पथसे विचलित हो जाते हैं। परंतु धन्य है सुदामा, जो आज धन न पानेमें परमात्माकी कृपाका दर्शन कर रहा है। यही तो पद-पदपर भगवत्कृपा अनुभव करनेका तरीका है। किसी भी अवस्थामें मन मैला नहीं, कहींपर असन्तोष नहीं, उसके प्रत्येक विधानपर पूरा सन्तोष— यही तो निर्भरता है। ऐसे भक्तके घरबारकी सारी सम्हालका भार भगवान् अपने ऊपर स्वयं ले लेते हैं। सुदामाको तो कामना नहीं थी, वे तो निःस्पृह थे, परंतु उनकी स्त्री और बच्चे भूखे मरते हैं, इस बातको अब भगवान् कैसे सह सकते हैं। भगवान्‌ने निष्काम सुदामाकी सती स्त्रीके मनमें एकबार उठी हुई कामनाको भी पूरा करना अपना कर्तव्य समझा। भगवान्‌के दर्शन अमोघ हैं। उनसे सांसारिक कामना भी (उनके उचित समझनेपर) पूरी होती है और भगवच्चरणारविन्दकी प्राप्ति होती है। ध्रुव और विभीषण कामनाको लेकर भगवान्‌के सम्मुख हुए थे। दर्शन होते ही कामनाका नाश हो गया, परंतु भगवान्‌ने उनकी पहलेकी कामना भी पूरी की और अन्तमें उन्हें अपना परमध्रुवपद भी दिया। यही भगवान्‌की विशेषता है। परंतु कामना लेकर भगवत्‌चरणारविन्दमें उपस्थित होना बड़ी ही नीची बात है। इस परम रहस्यको जो समझ लेते हैं उनके अन्तःकरणमें किसी भी अवस्थामें कामना उत्पन्न नहीं होती। सुदामाके मनमें कामना नहीं थी। परंतु उनकी पत्नीके मनमें एकबार कामना उदय हुई थी, इसीसे अद्भुतकर्मा भगवान्‌ने तुरन्त विश्वकर्माको भेजकर सुदामाकी टूटी झोपड़ी रातो रात देवदुर्लभ दैवीविलास महलके रूपमें परिणत करवा दी। सुदामा अपने गाँवके समीप पहुँचकर देखते हैं कि वहाँ उनकी झोपड़ीका कहीं पता नहीं है। जहाँ झोपड़ी थी वहाँ आज सूर्य, अग्नि और चन्द्रमाके

समान तेजयुक्त बड़े ऊँचे-ऊँचे महल बने हुए हैं। उनके आसपास बाग-बगीचे लगे हैं, अनेक पक्षी नाना प्रकारके कल्लोल करते हुए अपने मधुर गानसे मनुष्योंके मन मोहित कर रहे हैं। अनेक प्रकारके पुष्प खिल रहे हैं, महलों में विविध भाँतिके दिव्य वस्त्राभूषणोंसे सज्जित अनेक स्त्री और पुरुष इधर-उधर घूम रहे हैं। सुदामाजी तो यह सब देखकर अवाक् रह गये। उन्होंने सोचा मेरी टूटी मँड़ैया कहाँ गयी? ऐसा सम्पन्न महल कैसे बन गया? क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ, क्या मैं पराये नगरमें आ घुसा?

जगर मगर ज्योति छाय रही चहूँदिसि,
अगर बगर हाथी घोड़नको सोर है।
चौपड़को बन्यो है बजार पुनि सोननके,
महल दुकानकी कतार चहुँओर है।।
भीड़भाड़ धकापेल चहुँदिसि देखियत,
द्वारकाते दूनों यहाँ प्यादेनको जोर है।
रहिबेको ठाम है न काहू सों पिछान मेरी,
बिन जाने बसे कोऊ हाड़ मेरे तोर है।।

सुदामाजी अपने घरकी एक-एक चीजको याद करके सोचने लगे कि यहाँ तो उनमेंसे कोई भी चीज नहीं दीखती।

फूटी एक थारी बिनु टोंटनीकी झारी हुती,
बाँसकी पिटारी और पथारी हुती टाटकी।
बेंटे बिन छुरी और कमण्डल हौ टोकबो हौ,
टूटो हुतो पोपौ पाटी टूटी हुती खाटकी।।
पथरौटा काठको कठौता कहूँ दीसै नाहिं,
पीतरको लोटो हौ कटोरो है न बाटकी।
कामरी फटीसी हुती ओड़नीकी माला नाक,
गोमतीकी माटीकी न सुध कहूँ माटकी।।
(नरोत्तम)

यह सब तो नहीं सही, परंतु ब्राह्मणी और बच्चे भी कहाँ गये। सुदामाजी यों सोच ही रहे थे कि देवदेवियोंके समान तेजयुक्त सुदामापुर-निवासी नरनारियोंने आनन्दसहित गाते-बजाते हुए स्वागतके लिये वहाँ आकर आदरपूर्वक सुदामाजीसे कहा कि आप विचार क्या कर रहे हैं? चलिये, पधारिये। यह आपकी ही पुरी है। पतिका शुभागमन सुनकर उनकी अगवानीके लिये सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे सज्जिता लक्ष्मी-सरीखी शोभावाली सुदामाजीकी पतिव्रता स्त्री भी बाहर निकली। पतिको देखकर प्रेमोत्कण्ठासे उनके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू बहने लगे। सुदामाजी यह सब देखकर विस्मित हो गये और उन्होंने उस महा समृद्धि तथा ऐश्वर्ययुक्त महलमें पत्नी-सहित प्रवेश किया। सुदामाजी सारा रहस्य समझकर मन-ही-मन कहने लगे कि 'यह उन महान् ऐश्वर्यशाली भगवान् श्रीकृष्णकी ही लीला है। वे ही मेरे सखा, याचकको बिना बताये गुप्त रूपसे सब कुछ देकर उसका मनोरथ पूर्ण करते हैं। परंतु मुझे धन नहीं चाहिये, मेरी तो बारम्बार यही प्रार्थना है कि जन्मजन्मान्तरमें वही श्रीकृष्ण मेरे सुहृद् सखा तथा मित्र हों और मैं उनका अनन्यभक्त रहूँ। मैं इस सम्पत्तिको नहीं चाहता, मुझको तो प्रत्येक जन्ममें उस सर्वगुणसम्पन्न, महानुभावकी विशुद्ध भक्ति और उसके भक्तोंका लोकपावन संगही प्राप्त हो। वे दया करके ही धन नहीं दिया करते है; क्योंकि धनके गर्वसे धनवानोंका अधःपात हो जाता है, इसीलिये वे अपने अदूरदर्शी भक्तको विविध सम्पत्ति और राज्य आदि ऐश्वर्य नहीं देते।

पाठक! यह वचन अब दरिद्र सुदामाके नहीं हैं, परंतु महान् ऐश्वर्यवान् होनेपर भी मनसे सर्वथा विरक्त एक अनुभवी परमभक्तके हैं। धनी और निर्धन दोनोंको इन शब्दोंपर ध्यान देना चाहिये। धनियोंको केवल धनमें ही सुख न मानकर परमधन और निर्धनोंको धन प्राप्तिमें सुख होनेकी झूठी आशाको त्यागकर सबके परमधन परमात्मा श्रीकृष्णके प्रेममें अपनेको लगाना चाहिये।

(समाप्त)

पढ़ो, समझो और करो

[१]

बाबा भूतनाथकी कृपासे जीवन-रक्षा

घटना १५ मार्च १९७८ बृहस्पतिवारको घटी कलकत्ताकी है। हम सब अर्थात् २२ वर्षीय बड़ा भाई, माताजी, पिताजी और मैं—चारों एक साथ बैठकर रात्रिके १० बजे मनोविनोदकी बातें कर रहे थे। हम चारों रातको ही इकट्ठे हो पाते हैं; क्योंकि मैं सुबह कालेज चली जाती हूँ और पिताजी एवं भैया आफिस चले जाते हैं। रातमें १०-३० बजे मैंने कहा कि मुझे तो नींद आ रही है और जाकर बगलवाले कमरेमें सो गयी। सोते ही, मुझे बमका-सा विस्फोट सुनायी पड़ा। मैं चौंककर चिल्लाती हुई बगलवाले कमरेमें दौड़ी गयी। देखती हूँ कि हमारा सारा घर बैठ गया है एवं उसके नीचे मेरे माता-पिताजी एवं भैया तीनों दब गये हैं। वहाँका दृश्य देखकर मेरे तो हाथ-पाँव ठण्डे पड़ गये। मैंने सोचा, तीनों मर गये; क्योंकि पूरे वेगसे चलता हुआ पंखा एवं ऊपरकी पूरी छत और ऊपर जिनका कमरा था उनका सारा सामान गिर गया है। ऐसी स्थितिमें सोचा भी क्या जा सकता है। इतनी भयंकर स्थितिको देखकर प्रत्येक व्यक्ति घबड़ाहटमें रो ही देगा। किंकर्त्तव्य-विमूढ़तामें मैं तो अर्धचेतन-सी हो गयी और सब ओरसे अपनेको असहाय अनुभव करती हुई भगवान् शिवका स्मरण करके प्रार्थना करने लगी— 'बाबा! अब तुम्हारे ही हाथमें मेरा जीवन है। क्या तुम मुझे अनाथ बना दोगे? प्रभो! दया करो!' इतनेमें क्या देखती हूँ कि मिट्टीसे भरा हुआ मेरा भाई एक झटकेके साथ बाहर आ गया तथा पिताजी भी बाहर निकल आये। पर माँ न निकल पायी। मलवा हटाकर माँको बाहर निकाला गया। उन्हें अधिक चोट लगी थी: क्योंकि उन्हींके ऊपर चलता हुआ पंखा गिरा था। किन्तु सबसे बड़ी आश्चर्यजनक बात तो यह हुई कि इतना कुछ होनेपर भी किसीके भी हाथ-पाँव न टूटे थे। भैयाके तो खरोंच भी न लगी थी। भगवान् शिवकी अनुकम्पासे बड़े-बड़े पत्थरकी छालियाँ फूल बन गयीं। मुझे तो ऐसा लगा कि उस क्षणकी मेरी प्रार्थनासे ही भगवत्कृपाका यह चमत्कार सामने आया।

आज भी जब वह दृश्य मेरी आँखोंके सामने आता है, तब मैं बिल्कुल मूक बन जाती हूँ कि यदि उस दिन कुछ हो जाता तो मैं अकेली लड़की क्या कर सकती। पर जबतक भगवान्की कृपा है तबतक कुछ भी नहीं बिगड़ सकता। मेरे पिताजी प्रतिदिन सुबह भूतनाथके मन्दिर जाते हैं। बाबा भूतनाथने ही हमारी लाज रखी एवं पुनः जीवन-दान दिया। धन्य प्रभो!

आज इस कलियुगमें भी ईश्वर-कृपा का अनुभव हो जाता है। यदि कोई सच्चे मनसे ईश्वरकी आराधना करे तो निश्चय ही वह प्रभुकी कृपाका फल पा सकता है। अब हम सब बाबा शिवकी पूजा नियमित रूपसे करते हैं। उनकी कृपासे ही मेरे परिवारको पुनः जीवन मिला है।

—मञ्जु जोशी

[२]

ईश्वरीय शक्तिका बोध

मैं अपने एक शुभचिन्तकके साथ २५ मई, १९८२ को प्रातः छःबजे 'नीलांचल एक्सप्रेस' से नई दिल्लीसे अलीगढ़ जानेवाला था। हम दोनों गाड़ी छूटनेके कुछ समय पहले ही प्लेटफार्म पर पहुँच गये थे। उस समय वहाँ एक नीले रंगकी रेलगाड़ी खड़ी दिखायी पड़ी। हम पुलसे प्लेटफार्म जाते समय बात-चीतमें व्यस्त थे। हम नीले रंगकी रेलगाड़ीको ही नीलांचल एक्सप्रेस समझकर उसमें निश्चिन्त भावसे बैठ गये। हम दोनोंने एक दूसरेपर ऐसा भरोसा-सा कर लिया था कि हम सही रेलगाड़ीमें

ही चढ़े हैं। कुछ देर बाद पासवाले प्लेटफार्मसे एक अन्य रेलगाड़ी जो दरवाजोंपर लटकते यात्रियोंके साथ रवाना हुई, सम्भवतः वह गाड़ी (जो वास्तवमें 'नीलांचल-एक्सप्रेस' थी) पासवाले प्लेटफार्मपर हमारे वहाँ पहुँचनेके बाद आयी थी और कुछ देर रुकनेके बाद चल पड़ी थी। उस गाड़ीके छूट जानेके लगभग पंद्रह मिनट बाद हमारी गाड़ी भी चल पड़ी। गाड़ीके चलते ही डब्बेमें टिकटचेकर आ गया। उसने एक अन्य यात्रीका टिकट देखा, जो मद्रास जा रहा था। हम दोनों अब भी आपसी बातचीतमें लगे थे और उस समय भी टिकटचेकर अथवा किसी दूसरे यात्रीसे कोई पूछताछ नहीं की। जब हमारी रेलगाड़ी 'तिलकब्रिज' पारकर तुगलकाबादकी ओर मुड़ी, तब मुझे कुछ घबराहट हुई कि रेलगाड़ी गाजियाबादकी ओर न जाकर फरीदाबादकी ओर क्यों जा रही है? मैंने शीघ्र ही अपने दोनों टिकट टिकटचेकरको पकड़ा दिये, जिससे मैं आश्वस्त हो जाऊँ कि हम सही रेलगाड़ीमें ही बैठे हुए हैं। शीघ्र ही स्थिति स्पष्ट होगयी कि वह रेलगाड़ी 'नीलांचलएक्सप्रेस' न होकर 'तामिलनाडूएक्सप्रेस' है, जो बीचमें कहीं न रुककर लगभग ११.१५ बजे झाँसी रुकेगी।

हम दोनोंके होश-हवास उड़गये; क्योंकि हमारी जेबोंमें उतने पैसे न थे कि उस टिकटचेकरको दण्ड-कर देकर झाँसीसे वापस लौट सकें। भोजन आदिका भी प्रबन्ध न था। हमारे उस दिन अलीगढ़ न पहुँचनेपर हमें एक भारी क्षति भी उठानी पड़ती। टिकटचेकर भला आदमी था। वह बोला कि यदि संयोगसे गाड़ी बल्लभगढ़से पहले कहीं रुक जाय तो आप उतर जाइये; नहीं तो बल्लभगढ़ निकलते ही मुझे आपका 'बिना टिकट यात्रा' करनेके अपराधमें चालान करना पड़ेगा और आपको झाँसीतकका कम-से-कम दूना किराया देना होगा।' उस समय मेरे मनकी जो स्थिति थी उसका यहाँ वर्णन कर पाना सम्भव नहीं है। अन्य कोई उपाय न देखकर मैंनें तत्काल परमपिता परमेश्वरको याद किया और निर्विकार भावसे उनसे प्रार्थना की कि यदि कभी भी मैंनें अपने जीवनमें किसी असहाय व्यक्तिकी कोई सहायता की हो और कभी कोई पुण्य कमाया हो तो रेलगाड़ी शीघ्र ही कहीं रुक जाय। ऐसा सोचते समय मैं कुछ क्षणोंके लिये अपने-आपको और इस दीन दुनियाँको जैसे बिल्कुल भूल-सा गया था। आश्चर्य कि कुछ ही मिनटोंके बाद गाड़ी धीमी पड़ गयी और फरीदाबाद स्टेशनसे पहले ही एक फाटक के पास रुक गयी। हम दोनों तत्काल डब्बेसे उतरकर नीचे आ गये। रेलगाड़ीके अगले डब्बोंमें बैठे रेल-कर्मचारियोंने समझा कि जंजीर खींचकर हमने ही चलती रेलगाड़ीको रोका है। वे गुस्सेमें भरकर हमारी ओर आने लगे, किंतु हम दोनों पूर्णतया निर्दोष थे और आश्वस्त भावसे अपनी उसी जगह खड़े रहे। हमारे डब्बेमें बैठे अन्य यात्रियों और स्वयं टिकटचेकरने गाड़ी रोकनेमें हमारा कुछ भी हाथ न होनेकी बात कही। थोड़ी देर बाद रेलगाड़ी आगे बढ़ी और हम दोनों भी बससे लगभग नौ बजे पुनः नयीदिल्ली स्टेशन पर आगये फिर ९.४० पर रवाना होने वाली आसाम मेलसे अलीगढ़ पहुँचे। इस घटनासे मैनें अनुमान किया कि संसारमें एक ऐसी शक्ति अवश्य है, जो असम्भवको सम्भव कर सकती है तथा यदि कोई व्यक्ति शुद्ध और अनन्य भावसे उससे अपने कष्ट-निवारणकी प्रार्थना करता है तो वह शक्ति तत्काल अपना अनुग्रह दिखलाती है।

—सुमेर चन्द जैन

सेवा-पूजामें भूल हो जाय तो प्रभु क्षमा प्रदान करते हैं, किंतु व्यवहारमें भूल हो जाय तो लोग क्षमा नहीं करते।

मनन करने योग्य

(दयालु देवीमाई)

नासिकमें 'देवीमाई' नामका अस्पताल है। इस नामके पीछे कुछ इतिहास है। देवीके पतिकी मृत्यु हो गयी। उसके भाग्यमें युवावस्थामें वैधव्यका आघात लगना लिखा था। उसकी ससुरालमें उसके ननदोई थे, वे भी जाते रहे। ननद बहुत बीमार पड़ गयी। सब कहने लगे— 'यह देवी ही सबको खाये जा रही है।' वह पीहर गयी तो उसकी छोटी बहिन बहुत बीमार हो गयी! देवीके प्रति शंका बढ़ने लगी। सभी उसे सर्वभक्षी राक्षसी-बलकी प्रतिनिधरूप मानने लगे।

ऐसे वातावरणमें कभी तो देवीको अपना जीवन भाररूप लगता, कभी जीवनका अन्त कर डालनेकी उसके मनमें आती। कोई भी उसके प्रति क्षणभरके लिये भी सहानुभूति नहीं दिखाता। हाँ, उसका एक भाई अवश्य उसका ध्यान रखता।

आखिर इस भाईने उसे नर्सके ट्रेनिंग स्कूलमें भर्ती करा दिया। देवी नर्सकी शिक्षा प्राप्त करके एक छोटे-से प्रसूतिगृहमें नियुक्त हो गयी। इस प्रसूतिगृहकी मुख्य संचालिका एक अंग्रेज महिला थी।

एकबार एक नीची जातिकी बहिन प्रसूतिगृहमें भर्ती हुई। रातको उसके पेटमें दर्द शुरू हुआ। उसे पाखानेमें ले जानेकी स्थिति नहीं थी, पर अस्पतालमें पाखानेका टब (कमोड) केवल अंग्रेजों और यूरोपियनोंके लिये ही था। देवीने इस नियमका भंग किया और कमोडको वह उस बहिनके पास ले गयी।

दूसरे दिन इस बातका पता लगनेपर उस अंग्रेज-महिलाका पारा चढ़ गया। उसने देवीके साथ बहुत कड़ाईसे बातें की। इतनेपर भी देवीने सहज स्वरमें इतना ही कहा— 'ऊँच-नीचका भेद तो हमलोगोंने बना लिया है, धर्मकी दृष्टिसे सभी एक कुटुम्बकी संतान हैं।'

अंग्रेज-महिलाने देवीको प्रसूतिगृहसे निकाल दिया। पर अब देवीका जीवनकार्य सँभल चुका था। अब उसे जीवनमें कहीं निराशा या असहायपन नहीं भासता था। देवीने अंग्रेज महिलाका अस्पताल छोड़नेके बाद बचाये हुये वेतनके पैसोंसे तथा भाईकी मददसे पाँच-छः खाटवाले कमरेका अस्पताल शुरू किया। इस कमरेकी व्यवस्था उसके भाईने कर दी थी।

अब देवी केवल रोगियोंकी चारपाईके पास रात-दिन रहकर खड़े पैरों सेवा करने लगी। अठारह-अठारह, बीस-बीस घंटे लगातार वह मातृहृदयकी सजीव उर्मियोंके साथ रोगियोंका दुःख हल्का किया करती और निःस्वार्थ देख-भाल करती। अन्तमें उसके जीवन-कार्यका यश अपने-आप ही सब ओर फैलने लगा। अखबारोंमें विज्ञापन और फोटो छापनेकी उसे जरूरत नहीं पड़ी। उसकी इस उत्कृष्ट सेवा-भावनाके कारण अब वह केवल 'देवी' न रहकर लोगोंकी 'देवीमाई' बन गयी।

देवीमाईकी एक कोठरीके नन्हें-से अस्पतालको चारों ओरसे सहायता मिलने लगी। धीरे-धीरे वह एक भव्य बृहद् अस्पतालके रूपमें परिणत हो गया। इस अस्पतालकी इतनी ख्याति हुई कि उपर्युक्त अंग्रेज-महिला, जो एक समय देवीमाईकी स्वामिनी थी, उसके इस अस्पतालको देखने आयी।

बाहर मिलनेवालोंकी कतार लगी थी, उसीमें वह अंग्रेज-महिला भी खड़ी थी। इस नये अस्पतालका कार्य देखकर उसे बड़ी प्रसन्नता हो रही थी, इसलिये वह इस अस्पतालकी संचालिकाको धन्यवाद देने आयी थी। उसे यह पता नहीं था कि एक समय जिस बहिनको उसने अपमान करके अपने अस्पतालसे निकाल दिया था, वही इस अस्पतालकी मुख्य संचालिका देवीमाई है।

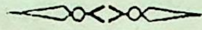
इतनेमें देवीमाई बाहरसे आयी और ज्यों ही वह अंदर जानेको पैर उठा रही थी कि उसकी नजर उस

अंग्रेज महिलापर पड़ी। देवीमाईको याद आयी कि इसी बहिनके पास मैंने पहले नर्सका काम किया था। देवीमाई अंग्रेज-महिलाको अंदर केबिनमें ले गयी। अंग्रेज-महिला बोलनेमें रुक-सी रही थी, आखिर वह बोली—

'देवी! तुझे धन्य है। तेरे कामको आज मैंने अस्पतालके हर हिस्सेमें घूम-घूमकर देखा है। तूने एक महान् सफलता प्राप्त की है। मानवजातिके दुःखोंको दूर करनेकी तेरी यह रात-दिनकी सतत चिन्ता तेरे सामने सबके मस्तक झुका देती है। तू मुझे अपनी भूलका प्रायश्चित्त करने देगी?'

तदनन्तर अंग्रेज-महिलाने अपने पर्समें डायरी निकालकर कुछ लिखकर दिया और कहा— 'इसको स्वीकार करके मेरी भूलको सुधारनेका अवसर मुझे दे, यही मेरी प्रार्थना है।'

देवीमाईने कागज खोलकर देखा-उसमें उस अंग्रेज महिलाने लिखा था-'अपनी सारी सम्पत्ति मैं इस अस्पतालको भेंट कर रही हूँ— देवीमाईके भव्य जीवनकार्यके प्रति एक तुच्छ नम्र अञ्जलिके रूपमें।'



।।श्रीहरिः।।

'कल्याण'

(भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र-)

के ५९ वें वर्ष-

वि० सं० २०४१—४२ (सन् १९८५ई०-)के छठे अङ्कसे बारहवें अङ्कतकके

निबन्धों और कविताओंकी वार्षिक विषय-सूची

(विशेषाङ्क एवं दूसरेसे पाँचवें अङ्कतककी विषय-सूचियाँ उनके आरम्भमें देखनी चाहिये, वे इसमें सम्मिलित नहीं हैं।)

निबन्ध-सूची

पद्य-सूची

कल्याणके प्राप्य विशेषाङ्कोंकी सचना

[कल्याणके प्राप्य पूर्ववर्ती तीन विशेषाङ्कोंपर विशेष छूट]

'कल्याण' अपने ५९ वर्षोंकी गौरवमयी प्रकाशन-शृङ्खलामें अबतक अट्ठावन विशेषाङ्क प्रकाशित कर चुका है। (प्रथम वर्षमें विशेषाङ्क प्रकाशित नहीं हुआ था।) उनमेंसे निम्नाङ्कित केवल तीन विशेषाङ्कोंकी कुछ (सीमित संख्यामें) प्रतियाँ ही अब शेष रह गयी हैं। अतः इच्छुक सज्जनोंको मनीआर्डर अथवा बैंक-ड्राफ्ट द्वारा अग्रिम मूल्य भेजकर वाञ्छित विशेषाङ्क मँगानेमें शीघ्रता करनी चाहिये, अन्यथा 'कल्याण' के पिछले विशेषाङ्कोंकी तरह इनके भी समाप्त हो जानेपर प्रेमी सज्जनोंको निराश होना पड़ सकता है।

१——चरित्रनिर्माणाङ्क

'कल्याण' के ५७वें वर्ष-(सन् १९८३) के इस विशेषाङ्ककी उपयोगिता एवं उपादेयता जितनी आज है, उतनी इससे पूर्व— इसके प्रकाशनके समय भी— न थी। वर्तमानमें प्रायः सर्वत्र व्याप्त उच्छृङ्खलता, असंयम, अनाचार, भ्रष्टाचार, हिंसा-हत्या, विध्वंस इत्यादि विविध दुर्गुण-दुराचारोंसे ग्रस्त और त्रस्त आजके मानवके लिये चारित्र्य-शिक्षा, चारित्र्य-गठन एवं चारित्र्योत्थानकी प्रेरणाकी नितान्त आवश्यकता है। इस दृष्टिसे यह विशेषाङ्क सदाचार, सद्धर्मप्रेरक सद्ज्ञान एवं सद्भावाओंको जगानेमें सहायक तथा सात्त्विकता, सदाचरण और सौहार्द बढ़ानेमें प्रेरक है।

पृष्ठ-संख्या-४३२, प्रसङ्गानुसार यथास्थान श्रीभगवान् तथा भगवद्-विभूतियोंके अनेक आकर्षक-चित्रोंका समायोजन इसकी विशेषता है। मूल्य २४.०० (चौबीस रूपये) मात्र (डाक-खर्च) सहित है।

२——मत्स्यपुराणाङ्क (पूर्वार्ध)

५८वें वर्ष-(सन् १९८४) का यह विशेषाङ्क हिन्दी-अनुवादसहित मूल मत्स्यपुराणका पूर्वार्ध भाग है, जो फरवरी '८४ के परिशिष्टाङ्कके साथ उपलब्ध है। संलग्न परिशिष्टाङ्क-सहित कुल पृष्ठ-संख्या—४६८ और रंगीन-चित्र-८ हैं। मूल्य (डाक-खर्च सहित) २४.०० मात्र है। इस वर्षके अन्य मासिक-अङ्क अनुपलब्ध हैं अतः केवल विशेषाङ्कके साथ संलग्न फरवरी-८४का साधारण अङ्क ही दिया जा सकेगा।

२——मत्स्यपुराणाङ्क (उत्तरार्ध)

५९वे— वर्ष-(सन् १९८५) का यह विशेषाङ्क हिन्दी अनुवादसहित मूल मत्स्यपुराणका उत्तरार्ध भाग है, जो ४ साधारण अङ्कों-(फरवरीसे मई-८५ तक— अङ्कों) सहित उपलब्ध है। इसकी पृष्ठ-संख्या-४३२ (मई-८५ तकके साधारण अङ्कों-सहित कुल पृष्ठ-संख्या-६३२) और रंगीन -चित्र-७, मूल्य डाक-खर्च सहित २४.०० मात्र है। साथमें कुछ अन्य उपलब्ध साधारण अङ्क (जूनसे दिसम्बर '८५ तक) भी निःशुल्क दिये जायेंगे। जो सज्जन गत ५८वें वर्षका पूर्वार्ध भाग प्राप्तकर चुके हैं, उन्हें विषयकी पूर्णताकी दृष्टिसे इस उत्तरार्ध-भागको भी अनिवार्यतः मँगाकर पुराण पूर्णकर लेना तथा अध्ययन-अनुशीलन करना चाहिये।

वितरकों और पुस्तक-विक्रेताओंके लिये विशेष सुविधा यह है कि उपर्युक्त विशेषाङ्कोंमेंसे सबकी अथवा आवश्यकतानुसार किसीकी भी कम-से-कम २० प्रतियाँ एक साथ मँगानेपर उन्हें १५% (पन्द्रह प्रतिशत) कमीशन (छूट) दिया जायगा। (गीताप्रेस पुस्तक-विक्रय-विभाग द्वारा कम-से-कम ५००.०० रूपयेके मूल्यकी पुस्तकोंपर १५% (पन्द्रह प्रतिशत) कमीशन दिया जाता है, जबकि कल्याणद्वारा इसकी न्यूनतम सीमा-मात्र ४८०.०० रु० ही सुनिश्चितकर सुविधा प्रदत्त की गयी है। अतः इच्छुक सज्जन इन विशेषाङ्कोंकी उपर्युक्त निर्धारित संख्यामें अथवा उससे कुछ कम संख्यामें भी (पुस्तकोंकी कम-से-कम ५००.०० रु०की निर्धारित मूल्य-राशि पूरी करनेके उद्देश्यसे) गीताप्रेसकी पुस्तकोंके साथ भी मँगा सकते हैं। उस स्थितिमें भी उन्हें वही (पन्द्रह प्रतिशत छूटकी) सुविधा प्रदान की जायगी। यह ध्यान रहे कि पुस्तकोंके साथमें कल्याणके अङ्क मँगानेवाले सज्जनोंको अपना आर्डर सीधे गीताप्रेस पुस्तक-विक्रय-विभागके पतेपर ही भेजना चाहिये। किंतु केवल कल्याण मँगानेवालेके लिये अपना आदेश कल्याण-कार्यालयके निम्नाङ्कित पतेपर ही भेजना समुचित होगा।

कल्याणके अङ्कोंपर उपर्युक्त सुविधाके अतिरिक्त पैकिंग-खर्च तथा रेलभाड़ा भी मुक्त होगा। इच्छुक महानुभाव इस शुभ-अवसरसे स्वयं शीघ्र लाभ उठायें एवं अपने इष्ट-मित्रोंको लाभान्वित होनेकी प्रेरणा दें।

——व्यवस्थापक—'कल्याण', पत्रालय—गीताप्रेस २७३००५, गोरखपुर

पंजीकृत-संख्या-जी० आर०-१३

'कल्याण' के आगामी विशेषाङ्क—'संकीर्तनाङ्क' विषयक शुभ-सूचना

वेदादि शास्त्रों, ऋषि-मुनियों, संत-महात्माओं और विद्वान्-मनीषियों— सभीने इस घोर कलिकालमें भवत्रस्तके त्राणके लिये 'भगवन्नाम-स्मरण' या 'हरिनाम-संकीर्तनको सर्वोपरि, सर्वसुगम और सरलतम साधन माना है। बृहन्नारदीयपुराणमें बलपूर्वक यह उद्घोषित है कि कलियुगमें नाम-साधनाके अतिरिक्त मुक्ति प्राप्त करनेका दूसरा कोई (सरल) उपाय नहीं है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् । कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ।।

श्रीभगवन्नाम सभी अमङ्गलोंका नाश करनेवाला, अन्तःकरणको पवित्र करनेवाला और भगवद्प्रेम तथा भगवद्भक्तिको उत्पन्नकर मनुष्य जीवनको सार्थक बनानेवाला परम कल्याणप्रद है। इस शास्त्र-सम्मत एवं संत-महात्माओंद्वारा अनुभूत, लोकोद्धारक सर्वमान्य साधन-सिद्धान्तको व्यावहारिक रूप देनेके लिए 'कल्याण'ने अपना आगामी विशेषाङ्क— श्रीभगवान्के नाम-गुण-लीला-कीर्तनकी विवेचित महिमासे मण्डित 'संकीर्तनाङ्क' प्रकाशित करनेका शुभ निश्चय किया है। यदि 'संकीर्तनाङ्क' इस उद्देश्यमें सहायक होकर भगवान् और भगवन्नामकी ओर किंचित् रुचि उत्पन्नकर सका तो इसका प्रकाशन सफल और सार्थक होगा।

इसकी कुछ विशेषताएँ निम्नवत् हैं :—

भगवन्नाम-संकीर्तनकी अकथनीय एवं अतुलनीय महिमाकी विशद-चर्चा, प्रतिपाद्य -विषयपर गम्भीर-विचार एवं गवेषणात्मक-विवेचन तो इस अङ्कमें प्रस्तुत रहेंगे ही, साथ ही इसमें वेदों और उपनिषदोंमें संकीर्तन-संकेत, संकीर्तनसे भगवद्दर्शन, श्रीमद्भागवतमें संकीर्तन-प्रसङ्ग, कीर्तनका नवधा-भक्तिमें स्थान और महत्त्व, कलियुगके दोषोंसे बचनेका सरल उपाय-संकीर्तन, नामसंकीर्तनसे विश्व-मङ्गल, कीर्तनके आद्याचार्य देवर्षि नारद, संकीर्तनप्रेमी श्रीहनुमान्, श्रीचैतन्य महाप्रभुका संकीर्तन-प्रेम आदि-आदि विषयोंके महत्त्वपर गंभीर, रोचक विचारके अतिरिक्त अन्य रोचक सामग्रियाँ भी रहेंगी। प्रसङ्गानुसार श्रीभगवान् और संकीर्तनप्रेमी भगवद्भक्तजनोंके रंगीन, सुन्दर, आकर्षक चित्रोंका संयोजन इसकी विशेषताओंमें अन्यतम है। वार्षिक-शुल्क ३०.०० (तीस रुपये) मात्र (डाक खर्च सहित) होगा।

भगवत्कृपासे 'कल्याण' अपना ५९वाँ वर्ष पूरा करके ६०वें वर्षमें प्रवेश करने जा रहा है। इस अन्तिम-(दिसम्बर '८५के) अङ्कके प्रकाशनके पश्चात् वर्तमान वर्ष (१९८५) का मूल्य समाप्त हो जाता है; अतः कल्याणके सभी ग्राहकों एवं प्रेमी पाठकोंसे विनम्र अनुरोध है कि वे नये वर्षके लिये अपना वार्षिक-शुल्क ३०.०० मात्र मनीआर्डर अथवा बैंक-ड्राफ्ट द्वारा कृपया शीघ्रातिशीघ्र भेज दें। विशेषाङ्कका मुद्रण-कार्य द्रुतिगतिसे सम्पन्न हो रहा है। इसके यथासमय (अनुमानतः जनवरी १९८६ तक) प्रकाशित हो जानेपर इसका प्रेषण भी यथासम्भव शीघ्र होनेकी आशा है। अतः जिन महानुभावोंको वार्षिक शुल्क-राशि मनीआर्डरसे अग्रिम प्राप्त हो जायेगी उन्हें रजिस्ट्रीद्वारा विशेषाङ्क भेजनेमें प्राथमिकता दी जायगी। अतः सभी ग्राहकों और इच्छुक सज्जनोंको वी. पी. पी. की प्रतीक्षा और अपेक्षा न कर निर्धारित शुल्क-राशि मात्र तीस रुपये मनीआर्डर द्वारा अग्रिम शीघ्र भेज देना ही समुचित होगा। तदर्थ मनीआर्डर-फार्म गत सितम्बर १९८५ के अङ्क (संख्या-९वें) में संलग्न करके ग्राहक-सज्जनोंकी सेवामें भेजे जा चुके हैं। जिन्हें संलग्न मनीआर्डर-फार्म किसी प्रकार प्राप्त न हो सका हो, अथवा जिन्हें नया 'ग्राहक' बनना हो उन्हें डाकघरसे ही मनीआर्डर-फार्म लेकर अपना शुल्क समयसे भेज देना चाहिये।

अत्यावश्यक निवेदन

विशेषाङ्कके प्रकाशनके पश्चात् कल्याणकी अग्रिम राशि भेजनेवाले ग्राहकोंको उनकी ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार अङ्क रजिस्ट्रीद्वारा पहले भेजे जाते हैं। अतः यदि आपके आस-पासके अन्य ग्राहक-सज्जनोंको अङ्क मिल गये हों और आपको न मिला हो तो एक सप्ताहकी प्रतीक्षा करके कल्याण-कार्यालयको इसकी सूचना अवश्य भेज देनी चाहिये, जिससे डाकघरमें रजिस्ट्री नहीं मिलनेकी शिकायत की जा सके। डाकघरमें ३ माहके अन्दर शिकायत करनेका नियम है; उसके बाद सुनवाई नहीं होती है। अतएव इस विषयमें आपकी सावधानी विशेष अपेक्षित है।

व्यवस्थापक—'कल्याण'

मुद्रक : भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी।